माधव-गीता

आदिदेव तुम पुरुष पुराणा । सकल विश्व के परम निधाना ॥
ज्ञाता ज्ञेय सुधाम महन्ता । विश्व व्याप्त तुम रूप अनन्ता ॥ [११ : ३८]

श्रीमुख

यह ग्रन्थ आज समाज की समस्याओं के समाधान में अधिक उपयोगी होगा, क्योंकि भगवान् शंकर जी की प्रेरणा से लिखा गया है। मेरी हार्दिक भावना है कि यह लोकप्रिय, हितकारी और प्राणीमात्र के लिये कल्याणप्रद होगा। मनुष्य मात्र इसका अध्ययन कर व्यवहारिक पारमार्थिक ज्ञान भक्ति से परम शान्ति को प्राप्त होगा। यह पद्यानुवाद लेखक के संत स्वभाव की अनुपम कृति है, अमर कीर्ति है।

नैमिषारण्य
सीतापुर
१९८०

नारदानन्द सरस्वती

श्री

योगी ताही जानिये यो गीता ही जान।
योगी ताहि न जानिये यो गीता ही न जान॥

वाराणसी

शम्भूनाथ शर्मा
राज-ज्योतिषी

॥ श्रीकृष्णः शरणं मम ॥

पीठिका

भारतवर्ष में जीवन का विश्लेषण पुराकल्प से होता चला आ रहा है और जीवन को जितने कोणों से देखा जा सकता है उन सभी से उसे देख लिया गया है। उसके मर्म को समझने-समझाने के लिए जिस वाङ्मय का निर्माण किया गया वह वैदिक वाङ्मय कहलाता है। वेद का अर्थ ज्ञान है। उस ज्ञान को काष्ठापन्न स्थिति में जिस वाङ्मय ने पहुँचाया उसका नाम उपनिषद् है। काष्ठा पर पहुँच जाने के कारण ही उसे वेदान्त कहते हैं। भारतीय दर्शन में ब्रह्म, जीव, जगत् के विमर्श के लिए जिस मार्ग से तत्त्वदर्शन का प्रयास किया जाता है वह 'प्रस्थान' कहलाता है। प्रस्थान एक नहीं तीन माने गए हैं जो प्रस्थानत्रयी के नाम से ख्यात हैं। उनके नाम हैं—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता। ये प्रामाणिक कोटि के मार्ग हैं अतः इन्हें 'प्रमाण' भी कहते हैं। इन तीनों में आगे चलकर श्रीमद्वल्लभाचार्य ने चतुर्थ प्रमाण श्रीमद्भागवत को भी मान लिया। इसलिए प्रस्थानत्रयी से प्रस्थानचतुष्टयी या प्रमाणचतुष्टय का प्रवाह चल पड़ा—

> **वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि।**
> **समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम् ॥**

'वेदाः' का अर्थ यहाँ 'उपनिषद्' ही है। 'श्रीकृष्णावाक्यानि' का तात्पर्य 'श्रीमद्भगवद्गीता' से है। 'व्याससूत्र' 'ब्रह्मसूत्र' का ही अपर-पर्याय है। 'व्यास की समाधिभाषा' का प्रयोजन 'श्रीमद्भागवत' से है। श्रीमद्भगवद्गीता के लिए प्रख्यात है—

> **सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।**
> **पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥**

उपनिषदों का व्यवस्थित निचोड़ ही गीता है। उपनिषदों में विभिन्न दृष्टियों से जीवन को निरख-परख कर जिस रूप में रखा गया है वह अत हैद्भ। 'गीता' भी महाभारत का एक अंश ही है। व्यास ने

जिस मेधा से भगवान् श्रीकृष्ण के वचनों को उसमें सुरक्षित कर दिया है दूसरा कदाचित् ही वैसा कर पाता। उपनिषदों का निष्कर्ष जिस प्रकार गीता में संगृहीत हुआ उसमें श्रीकृष्ण की विचक्षण-बुद्धि का चमत्कार प्रथमकोटिक है और संग्रहीता व्यास की प्रज्ञा द्वितीय कोटिक। पर ब्रह्मसूत्र में व्यास की शेमुषी ने प्रथमकोटिक उपनिषद्-संरक्षित तत्त्व का विमर्श दूसरे ही प्रकार से कर दिया है। व्यास को इतने पर भी संतोष नहीं हुआ तो उन्होंने भागवत में अन्य प्रकार से तत्त्वनिदर्शन कर डाला और तब उनके चित्त को विश्रान्ति मिली। ब्रह्मसूत्र में प्रमुख रूप से तत्त्वज्ञान का विश्लेषण है। गीता में प्रमुखतया कर्ममार्ग का गंभीर अनुसन्धान है और श्रीभागवत में भक्ति या उपासना-मार्ग का प्रधानतया विवेचन है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि अन्य मार्गों का चिंतन-मनन तत्तत्स्थलों में नहीं है। प्राधान्येन जो हो उसी के आधार पर निर्देश करना पड़ता है। यहाँ मुझे केवल गीता के संबन्ध में ही यत्किंचित् कहना है।

गीता ने पहले यही बताया है कि सांख्य और योग दो मुख्य मार्ग हैं। सांख्य ही ज्ञानमार्ग है और योग कर्ममार्ग। दोनों ही समान हैं दोनों में कोई भेद नहीं करना चाहिए। किंतु अर्जुन के जिज्ञासा करने पर उन्हें स्पष्ट करना पड़ा कि जगत् में कोई कर्म के बिना रह नहीं सकता। इसलिए कर्म से संसिद्धि में लगना चाहिए। उन्होंने सोदाहरण बताया कि—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि॥

ज्ञानमार्ग निवृत्तिमार्ग या संन्यासमार्ग है, कर्ममार्ग प्रवृत्तिमार्ग या गृहस्थ-मार्ग है। भारत में गृहस्थाश्रम इसलिए श्रेष्ठ माना जाता है कि सभी आश्रम उसी पर आश्रित रहते हैं। उसमें लोकसंग्रह की भावना विशेष होती है। गोसाईं तुलसीदास ने विदेहराज जनक की वदना यों की है—

प्रनवौं परिजन सहित बिदेहू। जिन्हहिं रामपद गूढ़ सनेहू।
जोग भोग महँ राखेहु गोई। प्रगटेउ राम बिलोकत सोई॥

इन्हीं महाराज जनक के उपदेश से व्यास जी के सुपुत्र शुकदेवजी संन्यस्त मार्ग पर जाते जाते रह गए। इसका विस्तृत उल्लेख श्रीमद्

देवीभागवत में है। शुकदेवजी के मन में युवावस्था में ही संन्यासमार्ग या निवृत्तिमार्ग पर जाने की प्रबल इच्छा हो गई। उन्हें उनके पितृचरण व्यासदेव ने बहुत समझाया, पर वे अपने तर्क से उनकी स्थापना का खंडन कर देते थे। हठ छोड़ ही नहीं रहे थे। हार कर व्यास जी ने उनसे कहा कि यदि जनकराज को भी अपने तर्कों से संतुष्ट कर आओ तो मैं तुम्हारा आग्रह मान लूँगा। पिता के आदेश से वे महाराज जनक के यहाँ गए। बड़ी कठिनाई से सात दिनों के अनन्तर शुकदेवजी सात ड्योढ़ियाँ पार कर आठवें दिन आक्रुष्ट रूप में जनक के समक्ष उपस्थित हुए। जनकराज ने कहा कि ब्रह्मन्, आज आप विश्राम करें आपका आक्रोश कुछ शांत हो तब चर्चा करना उपयुक्त होगा। इसलिए झखमार कर शुकदेवजी ने दूसरे दिन उनसे विषय-विमर्श के लिए भेंट की। अपने सारे तर्क किए और अपने पक्ष का समर्थन किया। जनकजी ने पूछा कि संन्यासी होकर आप दंड धारण करेंगे या नहीं। आसन-कमंडलु रखेंगे या नहीं। यदि दंडादि नहीं रखेंगे तो संन्यास-धर्म का पालन न कर सकेंगे। इन्हें रखने से इनका बंधन रहेगा या नहीं। बंधन छोटा हो या बड़ा, बंधन तो बंधन ही है। इसलिए सबसे मुख्य है मन की साधना—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

मन की साधना के लिए क्रमशः चारो आश्रमों में रहना ही श्रेयोमार्ग है। पहली सीढ़ी से यदि चौथी सीढ़ी पर पैर रखने का प्रयास करोगे तो कदाचित् ठीक से पैर उस पर न पहुँच सके और नीचे गिर पड़ना पड़े। इसलिए ब्रह्मचर्य के अनंतर आप गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करें यही सनातन और श्रेयस्कर मार्ग है। शुकदेवजी जनकराज के उपदेश से समाधान पाकर लौट आए। तब उनके पितृचरण ने उनका पितरों की पीवरी नाम की कन्या से विवाह कर दिया और उन्होंने गार्हस्थ्यजीवन में प्रवेश किया।

तात्पर्य यह कि सात्त्विक जीवन व्यतीत करते हुए गार्हस्थ्यधर्म का पालन करते हुए भी कोई वही संसिद्धि प्राप्त कर सकता है जो ज्ञानमार्गी प्राप्त करता है। योगी या कर्ममार्गी के योग को स्पष्ट करते हुए इसी से गीता में कहा गया है—**'योगः कर्मसु कौशलम्'** और **'समत्वं योग उच्यते'** समत्वं का अर्थ है अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति में एकरूपता। जैसा सूर्य के उदाहरण से किसी ने बताया है—

उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च।
संपत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता॥

सूर्य अरुण उदित होता है और अरुण अस्तगंत होता है। बड़ों की संपत्ति या विपत्ति में एकरूपता रहती है।

कर्म मार्गी के लिए गीता में फलासक्ति के त्याग की साधना बताई गई है। यह समझकर कर्म करे कि मुझे केवल कर्म करने का अधिकार है। फल पर अधिकार मेरी सीमा के परे है। फल देनेवाली कोई अदृष्ट शक्ति है। फल पर ध्यान रखने से कर्म पर ध्यान नहीं रहेगा। कर्म ही यथावत् न होगा तो फल कर्मानुरूप मिलेगा कैसे। कर्म पर ध्यान रहेगा तो फल वांछित मिलने की पूरी संभावना रहेगी और कदाचित् फल वांछित न मिला तो अनुताप न होगा।

गीता में इसी अनासक्ति को दूसरे रूप में व्याख्यायित करते हुए भक्ति-मार्ग का भी निरूपण कर दिया गया है। कर्मफल का त्याग सरलता से यों भी हो सकता है कि अपने सब कर्म भगवदर्पित कर दिए जाएँ। इस प्रकार कर्म ही अपने न रह जाएँगे फिर उनके फल की चिन्ता से समपर्क आप से आप दूर हो जाएगा। जब कर्म में ही अपनत्व नहीं तब उसके फल से क्या लेना देना। भक्ति का विस्तार से विवरण-विश्लेषण नहीं है। इसी की पूर्ति भागवत में की गई है। वहाँ भक्ति का विस्तार से विमर्श-परामर्श किया गया है। जिस प्रकार कर्ममार्ग गृहस्थ-मार्ग है उसी प्रकार भक्तिमार्ग भी गृहस्थों के लिए ही है। जीवन में जिन भावों का भौतिक संस्पर्श गृहस्थ करता है वे ही जब भगवत्संस्पर्श पा जाते हैं तब उनका चिन्मयोकरण हो जाता है। भक्ति में सात्त्विकवृत्ति स्थायी हो जाती है इसीलिए चित्त निर्मल हो जाता है। 'चित्त' का 'त' हट जाता है और भक्त चिन्मय हो जाता है।

सबको संपिंडित करके कहना यह है कि गीता का मुख्यरूप में 'योग' या कर्ममार्ग होने पर भी उसमें ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग भो विमृष्ट है। इसलिए यह ऐसा ग्रन्थ है जिसमें 'जीवन की भारत में मानी जाने वाली तीनो—ज्ञान, कर्म, भक्ति की—धाराएँ संनिविष्ट हैं।' सभी के लिए इसमें अपेक्षित साधना-सामग्री मिल जाती है। इसलिए इसका सरल हिन्दी में अनुवाद बहुत दिनों से अपेक्षित था। हिन्दो की मध्यकालीन

सर्वसामान्य काव्यभाषा में इसके कई अनुवाद हुए हैं। कोई-कोई कभी मुद्रित होकर भी सामने आए थे, पर वे अब उपलब्ध नहीं हैं। इसलिए इसके सुबोध अनुवाद की महती आवश्यकता थी। इसकी पूर्ति श्रीमती माधवीलता शुक्ल एम्-ए० द्वय (हिन्दी-संस्कृत) ने प्रस्तुत अनुवाद द्वारा की है। इसमें मूल भी दिया गया है। हिन्दी की सरल छन्दसरणि दोहे-चौपाई में इसका अनुवदन हुआ है। गीता कठिन ग्रन्थ है और उसमें कुछ शब्द उस अर्थ में प्रयुक्त नहीं हैं जिसमें हिन्दी में वे प्रयुक्त होते हैं। उदाहरणार्थं पर्याप्त शब्द हिन्दी से उलटे अर्थ में गीता में प्रयुक्त है। इसलिए मेरा सुझाव है कि ऐसे स्थलों पर टिप्पणी में शब्द का गीताभिलषित अर्थ भी दे दिया जाए तो और सरलता रहेगी। मेरा विश्वास है कि इस अनुवाद का हिन्दी संसार में समुचित समादर अवश्य होगा। लेखिका संस्कृत और हिन्दी दोनों ही भाषाओं में पारंगत हैं इसलिए उनका अनुवाद बहुत ही सटीक है और इसके लिए अनुवादिका साधुवादार्ह हैं।

अनन्त चतुर्दशी
सं० २०३७ वैक्रम

विश्वनाथप्रसाद मिश्र
सांमानिक आचार्य
हिन्दी विभाग
काशी विश्वविद्यालय

भूमिका

श्रीमती माधवीलता शुक्ल द्वारा श्रीमद्भगवद्गीता का लोकभाषा में दोहे चौपाई के माध्यम से सरल, सुबोध और सरस पद्यानुवाद पढ़कर हार्दिक उल्लास और कुतूहल हुआ। यों तो श्रीमद्भगवदगीता के ब्रज भाषा और हिन्दी (खड़ीबोली) में अनेक अनुवाद हुए हैं किन्तु जिस सरल, तरल, प्रवाह-शील और भावपूर्ण लोकभाषा में यह पद्यानुवाद हुआ है वैसा अन्य कोई अनुवाद मेरे देखने में नहीं आया।

श्रीमद्भगवद्गीता हमारे यहाँ प्रस्थानत्रयी के अन्तर्गत परिगणित होती है। प्रस्थानत्रयी में प्रथम श्रुतिप्रस्थान है उपनिषद्, द्वितीय न्याय-प्रस्थान है बादरायण व्यास का ब्रह्मसूत्र और तृतीय स्मृति-प्रस्थान है श्रीमद्भगवद्गीता। इसी महत्त्व के कारण श्रीमद्भगवदगीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में दिया गया है "ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे............योगो नाम............ अध्यायः।" इसका तात्पर्य यह है कि यह आध्यात्मिक ग्रन्थ उपनिषत्, ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र सब कुछ है। ब्रह्मविद्या और उसे प्राप्त करने के समस्त साधनों का यह अगाध और अथाह महासागर है, जिसकी थाह लगा सकना और जिसके पार जा सकना और ले जा सकना भगवान् श्रीकृष्ण ही का काम था। इसी लिये श्रीमद्भगवद्गीता के ध्यान में कहा गया है—

पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयम्,
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्ये महाभारतम्।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनीं,
अम्ब! त्वामनुसंदधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्॥

(जिसे स्वयं भगवान् नारायण ने अर्जुन को समझाते हुए सुनाया था और जिसे पुराण मुनि व्यासजी ने महाभारत में ला गूँथा था, ऐसी १८ अध्यायों वाली और सांसारिक कष्ट दूर कर देने वाली माता भगवद्गीते! मैं आपका अभिनन्दन करता हूँ)। इस अभिनन्दन का महत्त्व बताते हुए कहा गया है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता ॥

(अन्य अनेक शास्त्रों के पढ़ने से क्या लाभ है ? उनके बदले गीता को ही भली प्रकार मन लगाकर पढ़ना चाहिये जो स्वयं पद्मनाभ (विष्णु) कृष्ण (के मुखकमल से निकली है) (जिनकी नाभि भी कमल जैसी है) और मुख भी कमल जैसा है उनके हृदय रूपी कमल से उत्पन्न होकर उनके मुख रूपी कमल से निकलने वाली आध्यात्मिक दिव्यवाणी कितनी सुन्दर, कल्याणकर और आनन्ददायक होगी यह स्वयं सिद्ध है क्योंकि गोपालनन्दन ने अर्जुन को वत्स बनाकर सब उपनिषद रूपी गौओं से यह गीता रूपी अमृत सज्जनों के लिये दूहकर उपस्थित कर दिया है ।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीताऽमृतं महत् ॥

कुरुक्षेत्र की पवित्र युद्धभूमि में पहुँचकर जब अर्जुन का मन खिन्न और विचलित हो चला था उस समय भगवान् कृष्ण ने ही अपनी अमोघ दिव्य वाणी से अर्जुन का सम्पूर्ण मोह दूर करते हुए उसे उन लोगों के विरुद्ध विजयश्री दिलायी थी जो उस युग के अत्यन्त विशिष्ट महारथी थे, भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा आदि । इसीलिये कहा गया है—

भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गान्धारनीलोत्पला
शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला ।
अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्तिनी
सोत्तीर्णा खलु पाण्डवै रणनदी कैवर्तकः केशवः ॥

(भीष्म, द्रोणाचार्य जैसे महारथी जिस युद्ध —रूपी नदी के दोनों तट हों, गान्धार—नरेश शकुनि ही जिसके नील कमल हों, शल्य ही जिसमें मगर हों, कृपाचार्य ही जिसके बहाव हों, कर्ण ही जिसके तट का फैलाव हो, अश्वत्थामा और विकर्ण ही जिसमें भयंकर मगरमच्छ हों और दुर्योधन ही जिसमें भँवर हों वह युद्ध की प्रचण्ड नदी भी पाण्डव इसलिये पार कर पाये कि उनके केवट स्वयं केशव (कृष्ण) थे ।

युद्ध भूमि में पहुँचकर अर्जुन ने जिस विषाद का परिचय दिया था उसे आयुर्वेद की पारिभाषिक भाषा में प्रज्ञापराध कहते है । इस प्रज्ञापराध

का लक्षण बताते हुए चरकसंहिता में कहा गया है—

धीधृति स्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत्कुरुते शुभम् ।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम् ।।१।१०१।।

(जब बुद्धि, धैर्य और पिछले कर्म और अनुभव को स्मरण करने की शक्ति नष्ट होने के कारण मनुष्य अनेक अशुभ कर्म करने लगता है, वही स्थिति प्रज्ञापराध कहलाती है, जिससे सारे दोष उत्पन्न हो जाते हैं) ।

अर्जुन के मन में भी मोह उत्पन्न हो गया था और उसी मोह को दूर करने के लिये भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश दिया था । अपने मन का मोह दूर हो जाने पर अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण से यही कहा था—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ।।

(मेरा सारा मोह नष्ट हो गया है, मेरी स्मृति फिर जाग उठी है और आपकी कृपा से मेरे सब सन्देह भी जाते रहे हैं, इसलिये श्रीकृष्ण । जो आप कहेंगे मैं वहीं करूंगा) ।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता तो संसार के सब प्रकार के मोह और सन्देह दूर करने की रामबाण औषधि है । इसलिए जो पुण्यात्मा लोग इसका प्रचार करने और प्रसार करने में अपनी बुद्धि और समय लगाते हैं वे निश्चय ही साधुवाद और बधाई के पात्र हैं ।

मैं हृदय से श्रीमती शुक्ल को उनके इस ललित और सर्वबोध्य अनुवाद के लिये बधाई देता हूँ और विश्वास करता हूँ कि इस पद्यानुवाद का व्यापक आदर और अभिनन्दन होगा ।

सीताराम चतुर्वेदी

वेदपाठी भवन
मुजफ्फरनगर—२५१००२

आमुख

श्रीमद्भगवद्गीता श्रीकृष्ण द्वारा उपनिषदों से दुहा हुआ दुग्धामृत है। विद्वानों ने अद्वैतामृतवर्षी कह कर इसकी सराहना की है। अध्यात्म-यात्रा के पथिकों ने, विश्व-यात्रा के कर्मयोगियों ने और भागवत मार्ग के अनुयायी साधकों ने समान रूप से इसे अपनाया है और अपने-अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में इससे मार्ग-दर्शन प्राप्त किया है। महाभारत जिसके बारे में कहा गया है **"यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्"** यह उसका हृदय है। **"स्वधर्मे निधनं श्रेयः"** गीता का एक ऐसा सत्य शाश्वत सन्देश है जो धार्मिकता और धर्मनिरपेक्षता में सन्तुलन की भावना प्रस्तुत करता है। **"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज"** गीता का यह शरणागति सन्देश मानव मात्र के महनीय मंगल का स्रोत उद्घाटित करता है। **"त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः, कामः क्रोधस्तथा लोभः तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्"** इस अमृतोपम वचन द्वारा कामादि दुर्गुणों के त्याग का निर्देश जगत् में फैले हुए संघर्ष के मूल पर कुठार का प्रहार करता है। समत्वयोग और कर्मयोग का गीता में स्थल-स्थल पर किया गया निर्देश मानवता को गीता की अपने ढंग की असाधारण देन है।

गीता के इन अनेक महत्त्वपूर्ण प्रसंगों को देखते हुए गीता के मर्मज्ञ मनीषियों का यह कर्त्तव्य है कि वे इसे जन-जन तक पहुँचाने का प्रयत्न करें और सरल रीति से मानव मात्र को हृदयंगम करायें। इस कर्त्तव्य को देश और विदेशों के विद्वानों ने समझा और स्वीकार किया है। यही कारण है कि गीता पर न केवल संस्कृत भाषा में ही अनेक व्याख्या-ग्रन्थ लिखे गये हैं अपितु देश और विदेशों की आधुनिक भाषाओं में भी इसकी व्याख्याएँ की गयी हैं।

श्रीमती माधवीलता शुक्ला ने गीता के सम्बन्ध में अपने इस कर्त्तव्य को स्वीकार किया है और उन्होंने पूरी गीता की व्याख्या हिन्दी के सरल, सरस और सुबोध पद्यों में प्रस्तुत की है। गीता के जिन पद्यों में दर्शन के निगूढ़ तत्व निहित हैं उन्होंने उन्हें भी अत्यन्त मनोरम और सरल हिन्दी पद्यों में स्पष्ट किया है। उनके गीता के प्रस्तुत पद्यानुवाद से

उनका गीता का मर्मस्पर्शी ज्ञान प्रमाणित होता है और ऐसा लगता है कि सम्भवतः गीताकार ने स्वयं उनकी प्रतिभा के समक्ष गीतार्थ को उद्घाटित किया है। गीता की विशेष अभिज्ञता रखते हुए भी उन्होंने बड़े सहज भाव से अपना विनय व्यक्त किया है। उनके प्रथम पद्य का यह अंश "तुम्हरी वाणी तुमहि कहं बावरि रही सुनाय" किसी भी सहृदय को कभी विस्मृत नहीं हो सकती।

मेरा विश्वास है कि श्रीमती शुक्ला का यह कार्य गीता के जिज्ञासुओं और विद्वानों में समान रूप से आदृत होगा और गीता के अच्छे व्याख्याताओं में उनके नाम को परिगणित कराने में सक्षम होगा।

७-८-८०

बदरीनाथ शुक्ल
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

उद्धरेत् आत्मानं आत्मना

कहने वाली श्रीमद्भगवद्गीता प्राणिमात्र के लिये दिव्य संदेश है। इस असार संसार में सृष्टि के आदि कारण परमात्मा का विशुद्ध अंश जीव, देह में प्रविष्ट होते ही माया के विशाल चक्र के आलोड़न में फंस जाता है। सत्, चित्, आनन्द स्वरूप सच्चिदानन्द परमेश्वर से बिछुड़ते ही वह सत्, चित्, आनन्द की खोज में लग जाता है, किन्तु माया की चकाचौंध उसे "संसार" में "सत्" "स्व" में "चित्" एवं "भौतिक सुखों" में "आनन्द" की परिकल्पना करने के लिये वाध्य कर देती है। वह इन्द्रिय जन्य भोगों की क्षणिक सुखानुभूति को, जीवन की उपलब्धि की संज्ञा देते हुये, ईश्वर से पराङ्मुख होकर, अनन्तानन्त दुर्बल पिपासाओं के लिये छल-कपट-विद्वेषमय आचरण अपनाता हुआ पाप में प्रवृत्त हो जाता है। जब तक देह से सम्बद्ध रहता है, "यह मेरा है" "यह मैं हूँ", "यह मैंने पाया है", "यह मुझे पाना है" के भ्रम में पड़कर गर्हित से गर्हित कृत्य करने के लिये तत्पर रहता है। उसके कृत्य, उसके कर्म बनकर उसके आगत का अनुबन्ध लिखते हैं; इस प्रकार आवागमन के अनवरत् चक्र में उलझा जीव अपने चिर प्राप्य परमात्मा से करोड़ों करोड़ों जन्मों के लिये बिछुड़ जाता है।

मोह की विरसता में सरसता खोजने वाले भोले जीवों अर्थात् समस्त मानव जाति के लिए ब्रह्मा के श्री मुख से वेदों की सृष्टि हुई। वेदों की चतुर्मुखी ज्ञान शाला में जहाँ कर्मकांड की विशद् व्याख्या है वहीं ज्ञान कांड की महती विवेचना भी। ज्ञान कांड की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करने के लिये उपनिषदों की रचना हुई। ब्रह्मर्षियों, मनीषियों की तपश्चर्या के प्रतीक उपनिषद्, ज्ञान की उस गहराई तक पहुँचे कि अथाह सागर की तरह दुर्लभ्य होगये। मानव का परम लक्ष्य परमात्मा, उपनिषदों के परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले वचनों के शब्द जाल में पड़कर साधारण मनुष्य की समझ से बहुत दूर चला गया। अतः ब्रह्म सूत्र की रचना हुई। विषय की दुरूहता के कारण ब्रह्म सूत्र भी सामान्य व्यक्ति की समझ से परे रह गया। सर्वग्राह्यता के अभाव ने उसे भी एक अलभ्य अलङ्करण बनाकर युग के अङ्क में संभाल कर रख दिया है।

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता इन सब ग्रन्थों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म सार है, जो अत्यन्त सहजता से परमात्म तत्व का निरूपण करने में सक्षम है। परमात्मा से आत्मा की अभिन्नता, आत्मा का अस्तित्व, संसार का स्वरूप, प्रकृति की जड़ता, माया की शक्ति एवं गतिशीलता, निष्काम कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदि सभी चिर अभिलषित तत्वों की व्याख्या "गीता" के अपने अष्टादश सोपान हैं।

ज्ञान के उद्‌गम, श्री योगेश्वर कृष्ण ने मिथ्या मोह से आक्रान्त कर्तव्य-विमुख अर्जुन को कर्तव्य बोध कराते हुए, वेदों, उपनिषदों एवं ब्रह्मसूत्र के ज्ञानागार से एक एक कर उठते हुये समस्त भेदों, विभेदों, उपभेदों का सहज, सरस, संवादों के माध्यम से निरूपण कर, वाञ्छित समर्थ ज्ञान को दूध से मथ कर निकाले गये नवनीत की तरह सम्पूर्ण मानवता की हथेली पर सहज भाव से रख दिया है।

किन्तु हत्‌भाग्य, इस ज्ञानामृत के रसास्वादन की क्षमता भी "संस्कृत" भाषा की सार्वदेशिकता घटने के साथ-साथ क्षीण हो गई। परिवर्तन-धर्मा सृष्टि ने भाषा के माध्यम से मनुष्यमात्र के सर्वमान्य ग्रन्थ श्रीमद्‌भागवद्‌गीता को भी मानव मात्र के लिये दुरूह बना दिया।

प्रस्तुत काव्यानुवाद "माधव गीता," श्रीमद्‌भगवद्‌गीता को सामान्य जन के लिये सुबोध बनाने की अभिलाषा है। एक बौने की आकाश छूने जैसी चेष्टा है। आशा है विद्वत्-जन इस जिज्ञासु जीव की धृष्टता को क्षमा करेंगें तथा अपने सम्मत से इसे परिष्कृत करने की क्षमता प्रदान करेंगे।

त्रयोदश अध्याय का प्रथम श्लोक जिसमें अर्जुन ने श्री भगवान से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के सम्बन्ध में जानने की जिज्ञासा व्यक्त की है मुझे अध्ययन काल में अंग्रेजी भाषा की टीकाओं में देखने को मिला। अतः उसका अनुवाद भी "माधव गीता" में सम्मिलित हुआ है। महात्मा तुलसी ने अवधी भाषा में रामायण की रचना कर अवधी भाषा को अध्यात्म विषय की अभिव्यक्ति की सार्थकता सौंपी है। उन्हीं के पद-चिह्नों का अनुसरण करते हुए भाषा चयन में संस्कृत गर्भित अवधी का ही प्रयोग किया गया है।

प्रातः स्मरणीय १००८ स्वामी नारदानन्द सरस्वती ने निज कुटिया में पधार कर अपने आशीर्वचन के साथ श्रीमुख लिखा और माधव-गीता

को लोकप्रियता एवं कल्याणकारी होने का प्रसाद दिया। हिन्दी जगत के प्रेरणास्रोत डा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने पीठिका द्वारा माधव-गीता को आसन प्रदान किया है और आधुनिक हिन्दी साहित्य के आधार स्तम्भ आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने भूमिका लिख कर माधव-गीता को स्थायित्व और सार्थकता सौंपी है। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्व विद्यालय के कुलपति प्रो० बदरीनाथ शुक्ल ने आमुख द्वारा इस अनुवदन को आध्यात्मिकता का कलेवर पहनाया है। अपने इन गुरूजनों के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त कर मैं गौरव का अनुभव कर रही हूँ।

श्रीमद्भगवद्गीता के इस अनुवाद को करने में तथा प्रकाशित कराने में आदरणीय श्री परिपूर्णानन्द वर्मा, श्रद्धेय श्री हरिशंकर शर्मा, भू० पू० अतिरिक्त शिक्षा निदेशक, डा० प्रेमनारायण शुक्ल, कुँअर चन्द्र प्रकाश सिंह और श्री लल्लन प्रसाद व्यास, सम्पादक विश्व हिन्दी दर्शन ने मुझे अनुप्राणित और प्रेरित किया है। उनके प्रति आभार व्यक्त करना में अपना कर्तव्य मानती हूँ।

भारतीय संस्कृति के जाज्वल्यमान प्रतीक काशी नरेश डा० विभूति नारायण सिंह और पद्म-भूषण ठाकुर जयदेव सिंह, ने अत्यन्त आत्मीयता से 'माधव गीता' को हिन्दी संसार के समक्ष उद्घाटित किया है यह मेरे जीवन की अमूल्य निधि है।

श्री माधव-गीता के मुद्रण में श्री शम्भूनाथ शर्मा, श्री कमलाप्रसाद अवस्थी 'अशोक', श्री सुधाकर मालवीय और श्री ओप्रकाश पाण्डेय ने लगन और उत्साह के साथ तारा प्रिंटिंग वर्क्स को पूर्ण सहयोग दिया, जिसके लिये हम आभारी हैं।

काशी के कण-कण में विद्यमान बाबा विश्वनाथ जी के चरण कमलों के निकट बैठकर, घोर मानसिक उद्वेलनों के बीच, परमात्म साधना में लीन, सात्विकता के प्रतीक, मेरी मांग के सिन्दूर ने इस अकिञ्चन की साधना को साधन सम्पन्न बना दिया है।

"माधव गीता" का प्रस्तुत स्वरूप यदि चिर अभिलषित उद्देश्य की पूर्ति कर सका तो हम दोनों ही कृतार्थ होगें।

अमृत मय यह धर्म है, सब धर्मन को सार।
जोई समुझै चित डुबै, सोई उतरहि पार॥

२ नवम्बर १९८०
वाराणसी

माधवी
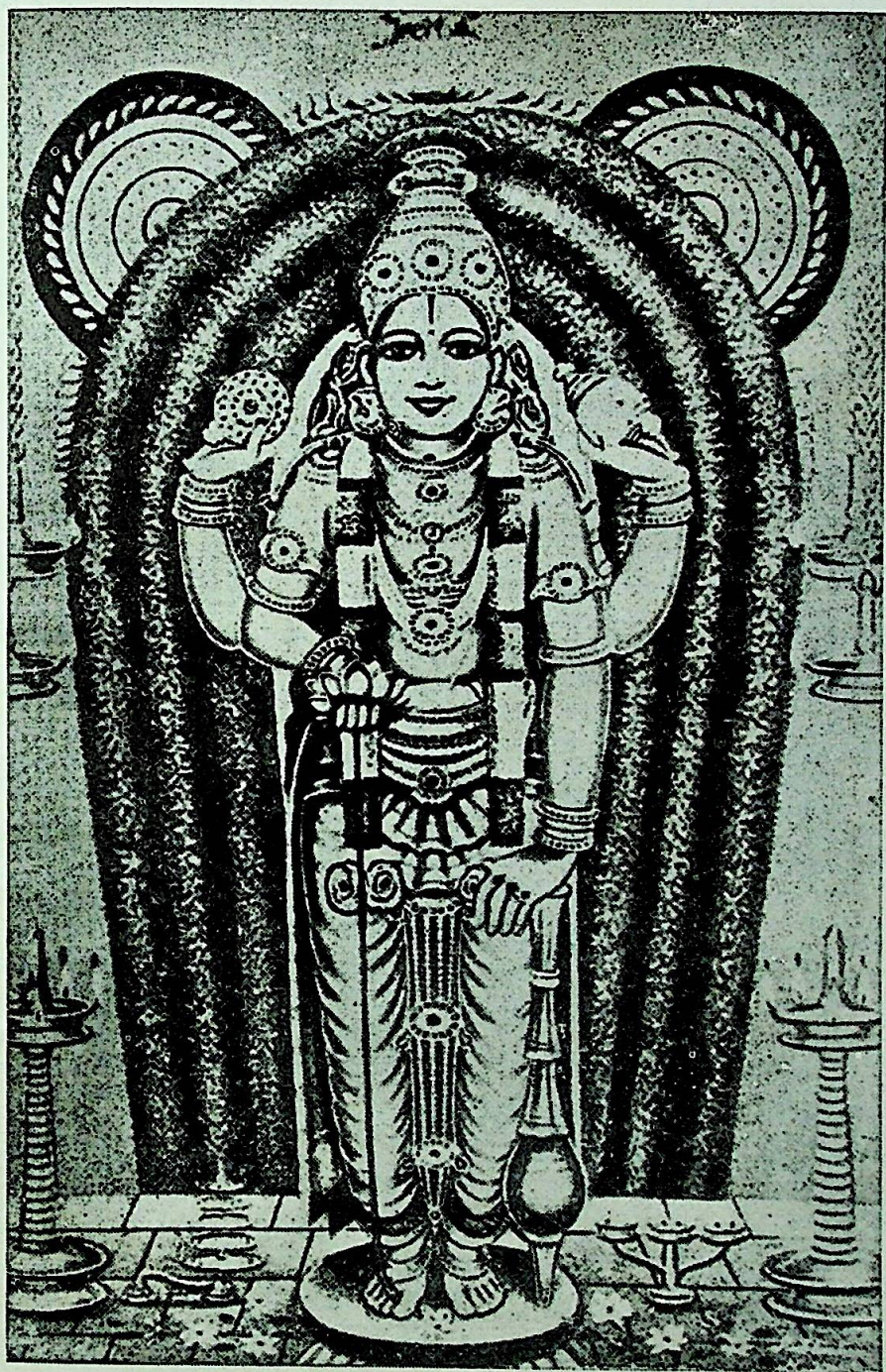
चक्र गदा कर माथ किरीटा। तैसेइ चहहुँ लखन तोहि इष्टा॥
सोइ गहु रूप चतुर्भुज धारी। सहस-बाहु विश्वरूप मुरारी॥ [११ : ४६]

सुमिर सुमिर करि वर वदन,
शंभु-चरण चित लाय।
तुम्हरी वाणी तुमहिं कँह,
बावरि रही सुनाय॥

卐

क्षमहु धृष्टता दीन की,
चरणन लेहु बसाय।
तुम्हरी छवि पल-पल लखहुँ,
माधव-गीता गाय॥

卐

अरु जे श्रद्धायुत पढ़हिं,
तिनकी 'राखिय टेक।
पापन मुक्ती दीजिये,
छूटहिं बन्ध अनेक॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच—

१

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥

संजय उवाच—

२

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥

३

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥

४

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥

५

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥

६

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥

ॐ श्रीकृष्णाय नमः

प्रथम अध्याय

धृतराष्ट्र ने कहा—

१

धर्म क्षेत्र कुरु क्षेत्र मंह, युधि-इच्छा मन लीन।
मोरे सुत अरु पाण्डु सुत, संजय कहु का कीह्न ॥

संजय ने कहा—

२

देखि पांडुसुत सैन्य पुनि, सँयत व्यूह रचाय।
दुर्योधन बोले बचन, द्रोण निकट इमि जाय ॥

३

विपुल पांडुसुत सैन्य समूहा। देखहु गुरुवर विरचित व्यूहा ॥
द्रुपद पुत्र तव शिष्य विशेषा। जाकी रचना कीन्हि अशेषा ॥

४

इहां शूर अति वीर प्रवीना। अर्जुनसम योधा अरु भीमा ॥
सात्यकि और विराट महाना। महारथी नृप द्रुपद समाना ॥

५

चेकितान धृष्टकेतु गंभीरा। काशिराज अतिशय बलवीरा ॥
पुरुजित कुंतिभोज महराजा। नरकुल श्रेष्ठ शैव्य शिवि राजा ॥

६

युधामन्यु पराक्रम शाली। उतमौजा अतिशय बलशाली ॥
द्रौपदेय सौभद्र महाना। महारथी सब अति बलवाना ॥

७

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥

८

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥

९

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥

१०

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥

११

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥

१२

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥

१३

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥

७

द्विज कुल श्रेष्ठ सुनहु अतिशिष्टा। मोरे संग जे वीर विशिष्टा॥
सेनापति मम सेना नायक। कहहुँ बखानि सुनहु सब लायक॥

८

आप भीष्म अरु कर्ण सुजाना। कृप समरन विजयी बलवाना॥
पुनि विकर्ण अश्वत्थामा जू। सोम दत्त सुत भूरिश्रवा हू॥

९

अन्य अनेक पराक्रम धारी। मोरे हित निज जीवन वारी॥
विविध शस्त्र आयुध संघाती। सबही युद्ध कुशल परतापी॥

१०

नहिं पर्याप्त हमार बल, रक्षित भीष्म सुजान।
पांडु सैन्य पर्याप्त बल, रक्षित भीम महान॥

११

निज स्थिति पहं जाईपुनि, स्थिति सुदृढ़ बनाय।
करहु सुरक्षा भीष्म की, सब के सब चितलाय॥

१२

वृद्ध पितामह अति परतापी। सिंह निनाद करत दिशि व्यापी॥
ऊँचे स्वर सों शंख बजावा। दुर्योधन हिय हर्ष बढ़ावा॥

१३

शंख बजत बाजे बहुशंखा। भेरी, ढोल खंजीर मृदंगा॥
एक साथ बहु बाजन बाजे। उठी तुमुल-ध्वनि भय स्वर-साजे॥

१४

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥

१५

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥

१६

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥

१७

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥

१८

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥

१९

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥

२०

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥

१४

ता पीछे दृढ़ रथहिं विराजे । श्वेत अश्व निज स्यन्दन साजे ।।
पांडु पुत्र माधव मन भाये । दिव्य अलौकिक शंख बजाये ।।

१५

पांचजन्य फूंक्यो हृषिकेषा । अर्जुन निज देवदत्त विशेषा ।।
नाम भीम कर्मरत भीमा । फूंकेहु शंख पौंड्र अति भीमा ।।

१६

कुंती पुत्र युधिष्ठिर राजा । शंख अनंत विजय कहं साजा ।।
मणिपुष्पकअरु शंख सुघोषा । सहदेव नकुल करेहु उद्घोषा ।।

१७

काशिराज धनुर्धर धीरा । महारथी शिखंडि बलबीरा ।।
धृष्टद्युम्न विराट बखाना । सात्यकि अपराजित बलवाना ।।

१८

हे महिपाल द्रुपद नृपराई । द्रौपदेय पुनि पांचहु भाई ।।
महाबाहु सुभद्रा जाये । पृथक-पृथक निज शंख बजाये ।।

१९

महाप्रबल उद्घोष गंभीरा । हृदय विदारत कौरव धीरा ।।
गूंजत पृथवी तल आकासा । तुमुल नाद छायेहु चहुँ पासा ।।

२०

देखि व्यवस्थित कौरवहिं, शस्त्र ग्रहन क्षण जानि ।।
हे नृप ! अवसर उचित लखि, धनु उठाय निज पाणि ।।

२१

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥

२२

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥

२३

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥

संजय उवाच—

२४

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥

२५

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥

२६

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥

२७

श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥

२१

बोले सहजहिं कृष्ण सों, जिन रथ ध्वज हनुमान ॥

अर्जुन ने कहा—

दोनहुँ सेनन मध्य मम, रथ रोपिय भगवान ॥

२२

जेहिते इनहिं लखहुँ भगवन्ता । जिनके हिय युधि भाव महन्ता ॥
किन संग मोरी परिय लराई । रण संग्राम जुरे समुदाई ॥

२३

दुष्टबुद्धि धृतराष्ट्र कुमारा । तेहिके हित जिन युद्ध संवारा ॥
तिन्हहिं विलोकन चाहहुँ नीके । युद्ध हेतु आगत सबहीके ॥

संजय ने कहा—

२४

सुनत नृपति अरजुन मृदुबानी । हृषीकेश मरमहिं पहिचानी ॥
दुहुँ सेनन के मध्य विशाला । उत्तम रथ रोपेउ महिपाला ॥

२५

सम्मुख भीष्म द्रोण युध लागे । सबही प्रमुख महीपति आगे ॥
कहेहु पुनः हे पार्थ सुबाहू । देखु इकत्रित सब कुरु राऊ ॥

२६

तंह देखे ठाढ़े युध लाई । पारथ स्वजन सकल समुदाई ॥
मामा चाचा बाबा भाई । पुत्र पौत्र गुरु सखा सहाई ॥

२७

दोनहुँ सेनन मध्य बिराजे । श्वसुर मित्र रण सज्जा साजे ॥
तिनहिं विलोकत कुन्ती पुत्रा । सस्नेही स्वजनन अरु मित्रा ॥

२८

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥

२९

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥

३०

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥

३१

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥

३२

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥

३३

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।

त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥

३४

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।

मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥

२८

अति करुणा कातर भइ बानी । बोले पार्थ विषाद बिलानी ॥

अर्जुन ने कहा—

देखत कृष्ण स्वजन सब ठाढ़े । युध इच्छा हित यहि रण गाढ़े ॥

२९

शिथिल होन लागे मम गाता । मुख सूखत नहिं आवत बाता ॥

काँपत थरथर मोर शरीरा । रोमांचित तन उपजो पीरा ॥

३०

कर ते खसक रह्यो गांडीवा । त्वचा जरहि जिमि पावक दीवा ॥

करि न सकहुँ पग स्थिति ऐका । भ्रमित हृदय मन बुद्धि विवेका ॥

३१

अशुभ-अशुभ लक्षण लखहुँ, केशव अति विपरीत ।

स्वजन मारि यहि युद्ध मँह, नहिं कल्याण प्रतीति ॥

३२

यहि ते नहिं चाहहुँ विजय, नहिं सुख राज समाज ।

कृष्ण कहा सुख जीवनहिं, का भोगे महिराज ॥

३३

जिनके हित चाहेहुँ सम्राजा । जिन हित भोग सुखन के साजा ।

वे सब युद्ध हेतु इँह आये । प्राण मोह धन मोह भुलाये ॥

३४

आचार्य द्रोण कृप भीष्म महाना । पिता पितामह पुत्र समाना ॥

मातुल श्वसुर पौत्र दौहित्रा । सकल स्वजन समाज अरु मित्रा ॥

३५

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥

३६

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥

३७

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥

३८

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥

३९

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥

४०

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥

४१

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥

३५

मधुसूदन समुझिय मन माहीं । मरतहु इन बध चाहहुँ नाहीं ।।
एक मही करि का प्रभुताई । तजहुँ त्रिलोक प्रभुता तृण नाईं ।।

३६

निज कर करि कौरव कुल नासा । केहि प्रिय हेतु धरहुँ हिय आसा ।।
इन पापिन बध कीन्हें पापा । कस रहिहौं माधव निष्पापा ।।

३७

निज बांधव धृतराष्ट्र के, पुत्र हनन नहिं जोग ।
हे माधव स्वजनन हने, कस सुखकर संयोग ।।

३८

जदपि लखहिं नहिं मूर्ख ये, लोभ वृत्ति चित लाय ।
मित्र दोह सम पाप अरु, कुल क्षय इन न लखाय ।।

३९

हम जिन जानिय कुल क्षय पापा। जिन समुझिय कुल वध परितापा ।।
किमि न होहिं यहि पापहिं मुक्ता। किमि न जनार्दन समुझिय भक्ता ।।

४०

कुल क्षय होत धरम कुल नासा । पुण्य सनातन होहिं उदासा ।।
धरम घटत कुल जनमत पापा । बाढ़त कुल अधरम अभिषापा ।।

४१

अधर्म बढ़े कुल कृष्ण कुलीना । होहिं भ्रष्ट कुल नारि प्रवीना ।।
भ्रष्ट नारि कुल-जनमहिं नाना । वार्ष्णेय मिश्रित संताना ।।

४२

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥

४३

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥

४४

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥

४५

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥

४६

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥

संजय उवाच—

४७

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

४२

वर्णसंकर कुल करहिं विनासा। नरक द्वार नित करहिं प्रकासा ॥
पितर सहहिं दुःख नरकहिं दीना। पिंडोदक कुल कृत्य विहीना ॥

४३

कुल घाती दोषन के मारे। संकर वर्ण बनावन हारे ॥
जाति धर्म कर करहिं विनासा। पुनि कुल धर्म सनातन नासा ॥

४४

जिन कुलधर्म कतहुँ कछु नाहीं। मनुज जनार्दन संसृति माहीं ॥
तिनहिं नरक कर मिलहि निवासा। सुनेहुँ शास्त्र सों धरि विश्वासा ॥

४५

अहह इहां निज धर्म भुलाई। महा पाप हित चित्त डुबाई ॥
लोभ राज्य सुख मोह प्रलापी। स्वजन करन वध आयेहुँ पापी ॥

४६

शस्त्र तजे रण मंह भगवन्ता। प्रतीकार बिनु किये महन्ता ॥
जदि मारहिं मोहिं कौरव भाई। अधिक कुशल कल्याण लखाई ॥

संजय ने कहा—

४७

अस कहि अर्जुन युद्ध मंह, बैठि गये रथ बीच।
छाड़ि धनुष अरु बाण कंह, होत विकल मन भीचि ॥

श्रीमद्भगवद्गीता पद्यानुवाद का अर्जुन विषाद योग नामक
प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ द्वितीयोऽध्यायः

संजय उवाच—

१

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥

श्रीभगवानुवाच—

२

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥

३

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥

अर्जुन उवाच—

४

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥

५

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥

६

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥

ॐ श्रीकृष्णाय नमः

द्वितीय अध्याय

संजय ने कहा—

१

करुणा कातर होत बहु, अश्रु भरे दुहुँ नैन ।
दुःख बूड़त लखि अर्जुनहिं, माधव कह यह बैन ।।

श्रीभगवान ने कहा—

२

अर्जुन कस अस मलिनता, विषम परिस्थिति मांहि ।
धारेहु निन्दित श्रेष्ठ नर, स्वर्ग कीर्ति जेहि नाहिं ।।

३

गहु न क्लीवता हृदय विकारा । जो न उचित तोहि पांडु कुमारा ।।
क्षुद्र हृदय दुर्बलता त्यागी । उठहु परंतप अति बड़ भागी ।।

अर्जुन ने कहा—

४

हे मधुसूदन कहहु विचारी । भीष्म द्रोण संग युद्ध मझारी ।।
केहि विधि केशव करहुँ लराई । पूजनीय दोनहुँ यदुराई ।।

५

महानुभाव गुरु बधिक कहाऊँ । श्रेयस्कर भिक्षुक बनि जाऊँ ।।
अर्थ काम हित गुरु वध कीन्हें । रुधिर सिक्त भोगन किमि लीन्हें ।।

६

श्रेष्ठ कवन मैं जानहु नाहीं । मोरी विजय पराजय मांहीं ।।
जिनहिं मारि नहिं जीवन चाहूँ । वे कौरव जन सम्मुख पाऊँ ।।

७

कार्पण्य-दोषोपहत-स्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥

८

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्—यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥

संजय उवाच—

९

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥

१०

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥

श्रीभगवानुवाच—

११

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥

१२

नत्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥

१३

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

७

स्वजनासक्ति मोह चित मूढ़ा । धर्म अधर्म न समुझहि गूढ़ा ।।
पूछहुँ सत्-पथ कहहु बखानी । जेहि कल्याण शरण शिष जानी ।।

८

शत्रु रहित महि, सम्पति युत राजू । जदि पावहुँ देवन सम्राजू ।।
तऊ न लखहुँ दुःख मुक्ति उपाया । जेहि शोषित मम इन्द्रिय काया ।।

संजय ने कहा—

९

अस कहि श्री हृषिकेश सों, गुडाकेश अरि व्याधि ।
नाहिं लड़ौं गोविन्द मैं, कहि चुप लीन्हीं साधि ।।

१०

तब धृतराष्ट्र बिहंसि बचन, बोले कृष्ण सुजान ।
दोनहुँ सेनन मध्य तेहि, अति शोकाकुल जानि ।।

श्रीभगवान ने कहा—

११

शोक परे हित शोकहिं कीन्हा । पुनि ज्ञानी बनि भाषण दीन्हा ।।
प्राण तजे अरु धारे प्राना । पंडित तिन हित शोक न माना ।।

१२

हम तुम महिपति जे इहं आंहीं । कबहूँ नाहिं रहे सो नाहीं ।।
देह तजे पाइय नहिं देहा । हमसब अस कछु नहिं संदेहा ।।

१३

जेहि विधि यहि तन तीनि अवस्था । बचपन यौवन वृद्धावस्था ।।
तजि तन पुनि तन पावत प्रानी । यहि ते मोह न मानत ज्ञानी ।।

१४

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥

१५

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥

१६

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

१७

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥

१८

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥

१९

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥

२०

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

१४

अर्जुन इन्द्रिय विषय विकारा। शीत ऊष्ण सुख दुःख दातारा ॥
यह अनित्य पुनि आने जाने। तेहिते इनहिं सहहु सुख माने ॥

१५

पुरुष श्रेष्ठ अर्जुन मतिमाना। जे प्रबुद्ध सुख दुःख सम जाना ॥
जेहि विचलित सुख दुःख नहिं करहीं। सोइ भव मुक्ति अमर पद लहहीं ॥

१६

असत भाव जंह नहिं विद्यमाना। सत अभाव जंह जाइ न जाना ॥
इन दोनहुँ सत असत प्रभावा। तत्व विज्ञ ज्ञानी जन पावा ॥

१७

जेहि तत्वहिं जग व्यापित सारा। ताहि समुझ अविनाशी धारा ॥
तेहि अव्यय तत्वहिं कहुँ कोई। नास हेतु समरथ नहिं होई ॥

१८

नष्ट होय यह देह स्वरूपा। किन्तु न बिनसहि आत्मा रूपा ॥
परे प्रमानन पुनि अविनाशी। सो तुम युद्ध करहु सुखराशी ॥

१९

जे समुझहिं यहि मारन जोगू। अरु जे मृत समुझहिं तेइ लोगू ॥
ज्ञानी अस अज्ञानी दोऊ। मरत न मारि सकहि यहि कोऊ ॥

२०

नहिं जनमत नहिं मृत्यु बिसैहै। ना यह हती न है नहिं हुइहै ॥
नित्य सनातन शाश्वत प्राणा। देह मिटे नहिं मिटत पुराणा ॥

२१

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥

२२

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

२३

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥

२४

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥

२५

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥

२६

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥

२७

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥

२१

जे अविनाशी नित्य अज, अव्यय समुझत याहि।
सो नर पारथ कस हनहिं, कस मरवावहिं काहि॥

२२

पहिरहि जिमि नव वस्त्र नर, जीरण वस्त्र उतार।
तैसेइ तजि तन जीर्ण पुनि, देही नव तनु धार॥

२३

यहि कहं शस्त्र न काटि सकाई। अग्नि सकहि नहिं याहि जराई॥
नहिं यह भीजत भिगवत पानी। वायु सुखाये नाहिं सुखानी॥

२४

कटत न शस्त्र न अग्नि जरावै। जल न भीज नहिं वायु सुखावै॥
अचल सनातन नित्य स्वरूपा। सर्वव्यापी अति स्थिर रूपा॥

२५

यह अव्यक्त यह शून्य विकारा। यह अचिन्त्य इमि जात पुकारा॥
यहि ते जानत समुझत याही। शोक न यहि हित तुमहिं सोहाई॥

२६

जनमत नित यह नित्य नसाही। जदि मानिय पाडंव मन मांही॥
तऊ तुम्हहिं हे पार्थ सुबाहू। शोक उचित नहिं कौनेहु भाऊ॥

२७

जो जन्मै तेहि मृत्यु नसावै। मृत्यु भये पुनि जनमहिं पावै॥
तेहि ते विषय न परिहर जोगा। ता हित व्यर्थ करिय नहिं सोगा॥

२८

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥

२९

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥

३०

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥

३१

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥

३२

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥

३३

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥

३४

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥

२८

आदि अव्यक्त मध्य पुनि व्यक्ता । निधन भये पुनि पुनि अव्यक्ता ॥
प्राणि मात्र अस स्थिति जानी । शोक करिय किमि अर्जुन ज्ञानी ॥

२९

अचरज सम देखहिं कोउ ऐका । पुनि अचरज कह अन्य अनेका ॥
अचरज सरिस सुनत इक कोई । सुनतहु समुझि सकहि नहिं कोई ॥

३०

नित्य अमर आत्मा तनु धारी । हे अर्जुन सब देह मझारी ॥
तेहिते प्राणि मात्र हित लाई । शोक उचित नहिं तुमहि लखाई ॥

३१

देखत समुझत धर्म निज । तुम विचलन नहिं जोग ।
धर्म युद्ध से श्रेष्ठ अरु । क्षत्रिय धर्म न भोग ॥

३२

बिनु मांगे अर्जुन मिल्यो, मुक्त स्वर्ग को द्वार ।
अस स्वधर्म युध क्षत्रियन, मिलत भाग्य आधार ॥

३३

सो जदि तुम निज धरम भुलाई । करिहहु नहिं यह धरम लराई ॥
तौ स्वधर्म अरु कीरति छाड़े । पाइय पांप पार्थ अति गाढ़े ॥

३४

अप कीरति तोरी पुनि प्रानी । गइहैं युग युग नित्य बखानी ॥
पुरुष प्रतिष्ठित के ढिग सोई । मौतहिं बड़ि अपकीरति होई ॥

३५

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥

३६

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥

३७

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥

३८

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥

३९

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥

४०

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

४१

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥

३५

युद्ध तजेहु तुम भयवश होई। महारथी मनिहैं सब कोई॥
जिनके चित तुम रहेहु महाना। वे लखिहहिं तोहि तुच्छ समाना॥

३६

अनकहनी बहु बात बनाई। कहिहैं हित नहिं जिनहिं सोहाई॥
निन्दक निन्दैं सामर्थ्य तुम्हारी। यहि ते दुःख का होइय भारी॥

३७

मृतक भये पुनि पाइय स्वर्गा। जीतत भोगिय पृथ्वी भोगा॥
तेहि ते युध निश्चय मन लाई। उठु कौन्तेय कहहुँ समुझाई॥

३८

सुख दुःख विजय पराजय दोऊ। सम करि लाभ हानि पुनि सोऊ॥
युद्ध योजना लेहु बनाई। पाप परिय नहिं धरम लराई॥

३९

कहेहुँ तोहि सिद्धान्त बखानी। अब सुनु बुद्धि योग इह प्रानी॥
हे पारथ जेहि बुधि कँह पाई। देहहु कर्म बंध बिसराई॥

४०

यहि आरम्भत होहि न नासा। नहिं कोउ दोष करिय विश्वासा॥
याहि धरम कर स्वल्प अधारु। मुक्त करहि भय बन्धन भारू॥

४१

दृढ़ निश्चय मय चित्त की, अर्जुन बुधि बस एक।
चंचलता युत चित्त की, बहु बुधि साख अनेक॥

४२

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥

४३

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥

४४

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥

४५

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥

४६

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥

४७

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥

४८

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

४२

कर्म कांड सों वेद गत, श्रेष्ठ न कछु जग मांहि।
ऐसे पुष्पित मृदु बचन, बोलत मूढ़ सोहांहिं॥

४३

कामी हित सर्वोपरि स्वर्गा। मानहिं जन्म कर्म फल भोगा॥
क्रिया विशेष बहु कर्म विधाना। भोग ऐश्वर्य सहज गति माना॥

४४

आसक्ति भोग ऐश्वर्य विशिष्टा। जिनके हृदय किये आकृष्टा॥
अतिशय चंचल बुधि तहं बसही। जो समाधि मंह-थिर नहिं रहही॥

४५

त्रिगुण विषय वेदन जेहि धारा। होहु मुक्त अर्जुन तेहि कारा॥
द्वन्द रहित धारिय सत्‌निष्ठा। योग क्षेम तजि आत्म प्रतिष्ठा॥

४६

चहुँ दिशि जब्र जल ही जल होई। कूप प्रयोजन लखहिं न कोई॥
ब्राह्मण जे परमात्मा ज्ञानी। तिन हित व्यर्थ वेद की बानी॥

४७

कर्महि केवल तव अधिकारू। तोरे वश नहिं फलहिं विचारू॥
तेहिते तजिय कर्म फल चाहा। तजहु अकर्म मोह नर नाहा॥

४८

हे अर्जुन आसक्ति विहाई। कर्म करहु योग स्थिति पाई॥
सिधि असिद्धि समता उपजावै। अनासक्ति सो योग कहावै॥

४९

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥

५०

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥

५१

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥

५२

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥

५३

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥

अर्जुन उवाच—

५४

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥

श्रीभगवानुवाच—

५५

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

४९

कर्म सकाम पार्थ अति हीना । जे समत्व बुधि-योग विहीना ॥
बुधि निष्काम शरण चित लइये । फल जे चहहिं कृपण तिन कहिये ॥

५०

गहि निष्काम बुद्धि यहि लोका । छूटत पापन पुण्य विवेका ॥
तेहि ते करु योगस्थित कामा । कौशल सों करमन निष्कामा ॥

५१

कर्म उपज फल छाड़ि सब, मन स्वामी बुधिमान ।
जन्म रूप बन्धन तजे, पावहिं पद निरबान ॥

५२

बुधि तोरी जब लांघिहै, मोह मैल अनुराग ।
सुनन योग्य, अबलौं सुने, शास्त्र मिलिय वैराग ॥

५३

शास्त्रन उलझी बुद्धि तब, जब निश्चल ह्वै जाय ॥
पाइय योग विकल्प तब, अचल समाधिहिं पाय ॥

अर्जुन ने पूछा—

५४

स्थित प्रज्ञ काह परिभाषा । समाधिस्थ केहि केशव भाषा ॥
स्थित प्रज्ञ होहिं जे प्रानी । रहत चलत कस बोलत बानी ॥

श्री भगवान ने कहा—

५५

तजहि पार्थ जब काम दुखारी । मन मह बसी कामना सारी ॥
परमात्मा मँह निज सुख पावै । सो नर स्थित-प्रज्ञ कहावै ॥

५६

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

५७

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

५८

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

५९

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

६०

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥

६१

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

६२

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥

५६

दुख मँह चित उद्विग्न न करहीं। सुख हित मन आसक्ति न धरहीं ॥
वीत राग भय क्रोध न जानैं। मुनि तेहि स्थित-प्रज्ञ बखानै ॥

५७

नेह विशेष न सब कहुँ धरही। शुभ अरु अशुभ जबहिं जब परही ॥
हर्षित होय न द्वेषिहिं वरही। तेहि बुधि थिर परमेश्वर रहही ॥

५८

अंग अंग चहुँ दिश सों खींची। जैसे कच्छप राखत भींची ॥
इन्द्रिन इन्द्रिय विषय हटावै। तेहि बुधि थिरता परमहि पावै ॥

५९

विषयन भोग विरत विश्वासा। पुरुष होय कीन्हें उपवासा ॥
किन्तु विषय रस मोह न छूटै। सो पुनि परम पुरुष लखि टूटै ॥

६०

हे कौन्तेय जतन बहु करहीं। पुरुष विचारवान जे अहहीं ॥
तिन कहुँ इन्द्रिय व्याकुल करहीं। बलवश हृदय चित्त कह हरहीं ॥

६१

सगरीं इन्द्रिन संयमित, करि मो राखहि प्रान।
जाके वश इन्द्रिय रहहिं, तेहि बुधि स्थिर जान ॥

६२

विषयन ध्याये पुरुष मन, उपजहि मोह विचार।
मोह जगे पुनि काम मद, कामहिं क्रोध अपार ॥

६३

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।

६४

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।।

६५

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।।

६६

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ।।

६७

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।।

६८

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।

६९

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।।

६३

क्रोध भये उपजहि संमोहा। मोह भये मति विभ्रम छोहा॥
स्मृति नष्ट भये बुधि नाशा। बुधि विनाश सों मनुज विनाशा॥

६४

द्वेष विमुक्त मुक्त अनुरागा। निज वश कीन्हें इन्द्रिय रागा॥
इन्द्रिन वश करि इन्द्रिय स्वामी। पावहिं नित आनंद अकामी॥

६५

आनन्द मिले सब दुखन विनासा। आनन्दहि मन मनुज प्रकासा॥
परमात्मा मँह बुधि स्थिरता। पावहिं तुरत आनन्दित चित्ता॥

६६

चंचल चित्त नहिं बुद्धि सुहावै। भक्ति भाव चंचल नहिं पावै॥
भक्ति भाव बिन शान्ति न मिलही। शान्ति बिना कहुँ सुख नहिं रहही॥

६७

इन्द्रिय निज निज विषय विलासा। तिन पीछे मन भाजत प्यासा॥
सो मन मनुज बुद्धि इमि ऍंचै। जल पर तरणि वायु जिमि खींचै॥

६८

महाबाहु अर्जुन करु काना। सब प्रकार वश करि विधि नाना॥
इन्द्रिय-विषय विषय रस आत्मा। तेहि प्रज्ञा स्थिर परमात्मा॥

६९

सब प्राणिन हित रैन कहावै। ताहि संयमी जागि बितावै॥
जेहि जागत धरती के प्रानी। निशि सम लखहिं ताहि मुनि ज्ञानी॥

७०

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

७१

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

७२

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

७०

बहु जल सागर जाय समाई । तजत न मरजादा जल पाई ॥
तैसेइ काम पाइ निष्कामी । शान्ति लहहिं जेहि पाव न कामी ॥

७१

छाड़ि कामना पुरुष जब, विचरहि निस्पृह होय ।
ममता तजि अहंकार तजि, शान्ति पाव नर सोय ॥

७२

ब्राह्मी स्थिति पार्थ यह, यहि गहि छूटत मोह ।
यह थित पावत मृत्यु क्षण, पावहिं परमहिं मोक्ष ॥

श्रीमद्भगवद्गीता पद्यानुवाद का सांख्य योग नामक
द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ ॥ २ ॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

१

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥

२

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥

श्रीभगवानुवाच—

३

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥

४

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥

५

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

६

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥

ॐ श्रीकृष्णाय नमः

तृतीय अध्याय

अर्जुन ने पूछा—

१

तुम्हरे मत जब कर्म सों, श्रेष्ठ बुद्धि निष्काम।
हे केशव किमि बाँधिये, कर्महिं घोर सकाम॥

२

कहि मोहि दुविधा मय वचन, उरझायेहु बुधि ज्ञान।
तेहि ते कहु निज एक मत, जेहि पावहुँ कल्यान॥

श्रीभगवान ने कहा—

३

प्रथम कहेंऊ अर्जुन अघहंता। संसृति मोक्ष हेतु दुई पंथा॥
ज्ञानी ज्ञान मार्ग जेहि पावै। तेहि योगी कर्मयोगहिं लावै॥

४

जब लौं चित कर्महिं नहिं ध्यावै। निष्काम भाव पुरष नहिं पावै॥
तैसेइ नित्य कर्म जे तजहीं। सिद्धि समाधि मोक्ष नहिं लहहीं॥

५

एकहु क्षण बिनु कीन्हें कर्मा। मनुज न पल भर रहहि अकर्मा॥
प्रकृति तीन गुण परवश प्रानी। कर्म करावहि प्रकृति सयानी॥

६

जो कर्मेन्द्रिन संयम साधे। मन सों इन्द्रिन विषय अराधे॥
विषयन मूढ़ हृदय चित धारी। सो कहाव जग मिथ्या चारी॥

७

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥

८

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥

९

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥

१०

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

११

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

१२

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्ता न प्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥

१३

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

७

ज्ञानेन्द्रिय मन संयम बांधी। हे अर्जुन कर्मेन्द्रिय साधी॥
कर्म योग आरम्भहि जोई। अन-आसक्त श्रेष्ठ नर सोई॥

८

नियत कर्म करु गहि निज धर्मा। कर्म श्रेष्ठ नहिं श्रेष्ठ अकर्मा॥
जात्रा तोरि शरीर समोई। कर्म किये बिनु सिद्ध न होई॥

९

पर उपकार कर्म कँह छाड़े। अन्य कर्म बहु बन्धन गाढ़े॥
तेहिते तेहि हित मोह विहाई। कर्म करहु कौन्तेय सदाई॥

१०

करि बहु यज्ञ प्रजा उपजाई। कहेहु प्रजापति बात बनाई॥
यज्ञ होहि उत्कर्ष तुम्हारा। इच्छित फल तोहि देवनिहारा॥

११

यहि ते देवन तुष्ट करु, तुष्ट करहिं वे तोहि।
इक दूजे कहं तुष्ट करि, लहु कल्याणहिं दोय॥

१२

देहहिं इच्छित भोग तोहि, देव यज्ञ-संतुष्ट।
तिन दीन्हें तिन बिनु दिये, भोगहिं चोर निकृष्ट॥

१३

यज्ञ शेष निर्वाह करन्ता। पापन मुक्ती पावत सन्ता॥
किन्तु जियहिं जे निज हित लागी। पचवत पाप पाप अनुरागी॥

१४

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥

१५

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

१६

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥

१७

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥

१८

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥

१९

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥

२०

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥

१४

जीवन जनम अन्न सों होई। अन्न उपज वरषा सों सोई ॥
वर्षा होय यज्ञ लव लाई। उपजहिं यज्ञ कर्म कंह पाई ॥

१५

ब्रह्म समुद्भव जानिय कर्मा। अक्षर उत्पत्ति मानिय ब्रह्मा ॥
सब कहुँ व्याप्त ब्रह्म यहि भाँती। नित्य प्रतिष्ठित यज्ञ प्रतापी ॥

१६

यहि विधि यज्ञ चक्र जग मांही। नर जो अग्र चलावत नाहीं ॥
इन्द्रिय-विषय उरझि सो पापी। पारथ व्यर्थ जियहि संतापी ॥

१७

परमात्मा रत जे नर रहहीं। तृप्ति नित्य परमात्महिं लहहीं ॥
परमात्मा मंह तुष्ट विशेषा। तिन हित कार्य रहहिं नहिं शेषा ॥

१८

नहिं तिन्ह कछु कीन्हें कर अर्था। का करिहहिं सोउ लोक निरर्था ॥
इन हित कहुँ कछु स्वारथ नाहीं। जग मंह नहिं जग प्राणिन मांही ॥

१९

तेहिते मन आसक्ति विहाये। कर्म करहु जे सम्मुख आये ॥
सतत कर्म करि तजि आसक्ती। पावत पुरुष परम पद मुक्ती ॥

२०

पायेहु कर्महि मोक्ष महाना। जनक आदि ज्ञानी मतिमाना ॥
लखत लोक संग्रह कल्याना। तोरे हित करमहिं परधाना ॥

२१

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।।

२२

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ।।

२३

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।।

२४

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ।।

२५

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।।

२६

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ।।

२७

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।।

२१

श्रेष्ठ पुरुष जेहि आचरहिं, तेहि अनुकरहि समाज।
जेहि प्रमाण वे उच्चरहिं, सोइ प्रमाण जग काज॥

२२

हे पारथ कर्तव्य कछु, नहिं त्रिभुवन मंह मोर।
नहिं अप्राप्य अरु प्राप्य कछु, तऊ कर्म-रत घोर॥

२३

जदि मैं नित्य कर्म नहिं करहूँ। आलस छाड़ि कर्म नहिं वरहूँ॥
तौ पारथ अनुकरन हमारा। करिहहिं मनुज सकल संसारा॥

२४

यदि न करहुँ मैं कर्म सुयोगा। नष्ट होहिं सब के सब लोका॥
संकर कर्ता मैं बनि जाऊँ। मैं ही नास प्रजा जन लाऊँ॥

२५

अति आसक्ति भरे मन माहीं। मूर्ख पार्थ जिमि कर्म कराहीं॥
तिमि ज्ञानी चह करमन पोहा। लोक सुसंग्रह हित तजि मोहा॥

२६

बुद्धि भेद उपजावहि नाहीं। कर्मासक्त, मूढ़ जन माहीं॥
विज्ञ युक्त-आचरण सुहावे। अज्ञान चह सब कर्म करावे॥

२७

सब विधि प्रकृति गुणन वश जेते। कर्म होहिं नित स्वयं अचेते॥
चित्त विमूढ़ अभिमान भुलाने। तिन्ह कर कर्त्ता निज कहं माने॥

२८

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥

२९

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥

३०

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धस्व विगतज्वरः ॥

३१

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥

३२

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥

३३

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥

३४

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥

२८

अर्जुन गुण अरु कर्म विभागा । जानहिं जिनहिं तत्व अनुरागा ॥
इन्द्रिय गुणन विषय गुण रहहीं । समुझि अलिप्त हृदय चित करहीं ॥

२९

इन्द्रिय प्रकृति गुणन जिन मोहा । तिन इन्द्रिय गुण कर्म संजोहा ॥
मोहित मन्द पुरुष अज्ञानी । तिन कँह विचलित करहिं न ज्ञानी ॥

३०

करि मोहि कर्म समर्पित सारे । आध्यात्म वृत्ति चित चिन्तन धारे ॥
आशा अरु ममता बिलगाई । युद्ध करहु संताप विहाई ॥

३१

यह मत मोर मनुज मन धरहीं । नित्याचरण हृदय सों करहीं ॥
ईर्षा मुक्त मनुज श्रद्धालू । छूटहिं कर्म बन्ध विकरालू ॥

३२

दम्भी करहिं न आचरन, मोरे मत धरि चेत ।
सकल ज्ञान सों मूढ तिन्ह, जानिय नष्ट अचेत ॥

३३

ज्ञानी प्रकृतिहिं वैपरे, निज प्रकृती अनुरूप ।
अज्ञानी निज प्रकृति सम, का कर निग्रह रूप ॥

३४

इन्द्रिन इन्द्रिय विषय विशेषा । स्थिति रहहिं राग अरु द्वेषा ॥
तिन के वश चाहिय नहिं आवा । दस्यु दुहूँ सतपंथ छलावा ॥

३५

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

अर्जुन उवाच—

३६

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥

श्रीभगवानुवाच—

३७

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

३८

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥

३९

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥

४०

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥

४१

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥

३५

आपन धर्म श्रेष्ठ गुण हीना। पर धर्मन सों गुणन-प्रवीना ॥
निधन श्रेष्ठ निज धर्महिं लागी। धर्म अपर भय अवनति भागी ॥

अर्जुन ने पूछा—

३६

कहु हे कृष्ण वृष्णि कुल जाये। सुनियोजित सम कर्म बनाये ॥
केहि प्रेरित इच्छा बिनु कीन्हें। मानव पाप करहि चित दीन्हें ॥

श्रीभगवान ने कहा—

३७

क्रोध एक अरु दूजो कामा। जनमत नित्य रजोगुण ग्रामा ॥
पेटू महा-महत्तम पापी। जानिय इनहिं शत्रु संतापी ॥

३८

धूम्र पुञ्ज जिमि झाँपत आगी। झाँपहि दरपन धूरि अभागी ॥
गर्भ झँपइ जिमि आँवर प्राना। काम क्रोध तिमि झाँपहिं ज्ञाना ॥

३९

हे कौन्तेय पुरुष मतिमाना। तिन्ह कर बैरी काम महाना ॥
दुष्कर नित्य अतृप्त स्वरूपा। झाँपहि ज्ञान काम बहु रूपा ॥

४०

दस इन्द्रिय मन बुधि यह देहा। आश्रय हेतु काम के गेहा ॥
इन्द्रिन पाइ सहारा एही। झाँपहिं ज्ञान विमोहहिं देही ॥

४१

तेहिते हे अर्जुन व्रत साधी। निज इन्द्रिय संयम सों बाँधी ॥
पापी कामहिं तजहु महाना। नास करहि जो ज्ञान विज्ञाना ॥

४२

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥

४३

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥
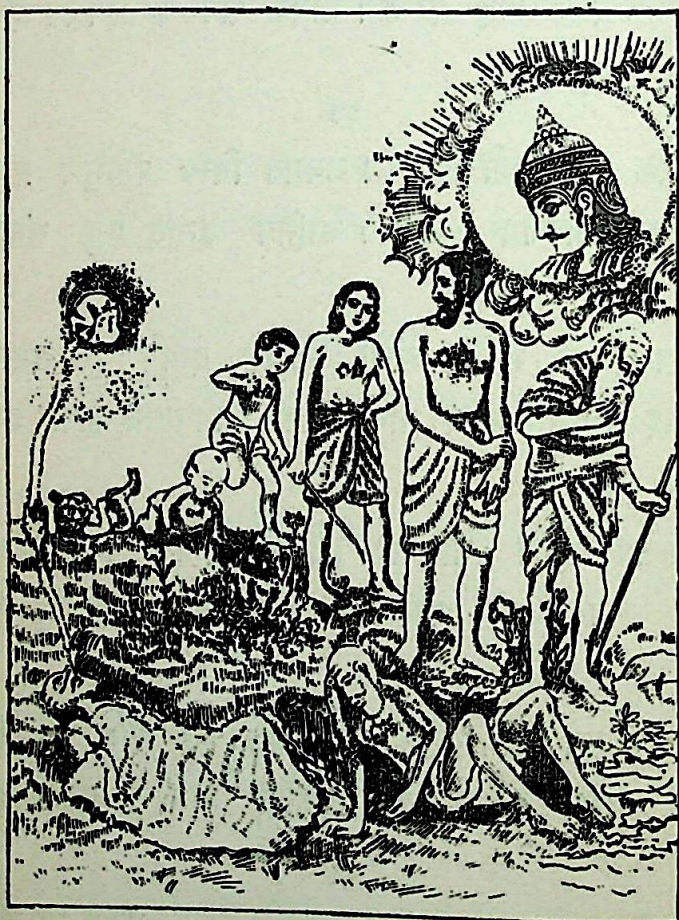
जेहि विधि यहि तन तीनि अवस्था । बचपन यौवन वृद्धावस्था ॥
तजि तन पुनि तन पावत प्रानी । यहि ते मोह न मानत ज्ञानी ॥ [२.१३]

४२

ज्ञानेन्द्रिय कह श्रेष्ठ सब, इन्द्रिन सों मन श्रेष्ठ।
मन सों बुद्धी श्रेष्ठ अति, बुधि सों सो अति श्रेष्ठ ॥

४३

बुद्धि परे परमात्म कहँ, जानत पार्थ सुभाय।
काम रूप अरि दुरजयी, जीतु मनहिं वश लाय ॥

श्रीमद्भगवद्गीता पद्यानुवाद का कर्म योग नामक
तृतीय अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३ ॥
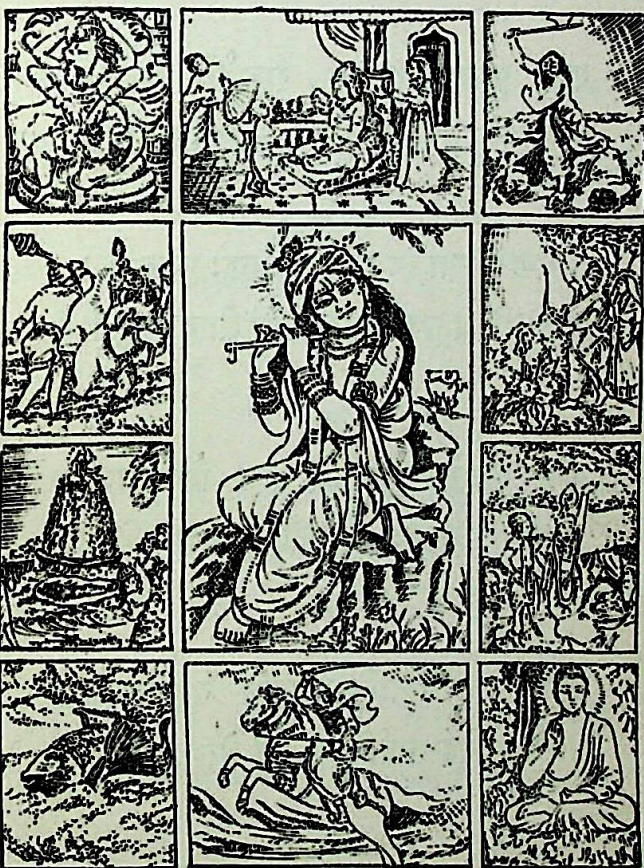
जब जब होय धरम कै हानी। जब जब पापि करहिं मनिमानी ॥
तब तब हे अर्जुन मैं धाई। सृजन करहुं निज जन्महुं आई ॥ [४.७]

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ चतुर्थोऽध्यायः

१

श्रीभगवानुवाच—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ।।

२

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ।।

३

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ।।

अर्जुन उवाच—

४

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ।।

श्रीभगवानुवाच—

५

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ।।

६

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ।।

ॐ श्रीकृष्णाय नमः

चतुर्थ अध्याय

श्रीभगवान ने कहा—

१

अव्यय योग कहेहुँ प्रथम, मैं यह सूर्य सुनाय।
सूर्य कहेउ पुनि मनु निकट, मनु इक्ष्वाकुहिं पाय ॥

२

परम्परा सों प्राप्त इमि, कीन्ह याहि राजर्षि।
काल गये बहु योग यह, पार्थ पाव अपकर्ष ॥

३

कर्म योग निष्काम पुरातन। कहेहुँ तोहि मैं आजु सनातन ॥
तुम मम भगत सखा हौ सोई। उत्तम रहसि न राखेहुँ गोई ॥

अर्जुन ने पूछा—

४

यहि जुग मांहि जनम तव भयऊ। सूर्य सृष्टि के सँग सँगहि जन्मेऊ ॥
कहेहु सूर्य सों योग सुरीती। कस यहि कथन करहुँ परितीती ॥

श्रीभगवान ने कहा—

५

हे अर्जुन मोरे अरु तोरे। बीते जनम बहुत नहिं थोरे ॥
तिन सब कहँ मैं विधिवत जाना। पारथ तुमहिं न जिनकर ज्ञाना ॥

६

मैं अज अव्यय आदि अनन्ता। सब प्राणिन को ईश नियन्ता ॥
निज माया निज वश कै राखी। जनमहुँ निज समरथ करि साखी ॥

७

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

८

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

९

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

१०

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
वहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥

११

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

१२

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
चिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥

१३

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥

७

जब जब होय धरम कै हानी। जब जब पाप करहिं मनमानी ॥
तब तब हे अर्जुन मैं धाई। सृजन करहुँ निज जन्महुँ आई ॥

८

साधु जनन रक्षा हित लाई। नास हेतु पापिन अधमाई ॥
धर्म प्रतिष्ठा हित संसारा। युग युग लेहुँ स्वयं अवतारा ॥

९

जो जानहि मम दिव्य स्वरूपा। जानहि जन्म कर्म सत रूपा ॥
देह तजे पुनि जन्म न पावै। हे अर्जुन सो मो पहँ आवै ॥

१०

वीत राग छाड़े भय कोहा। मम आश्रित डूबे मम मोहा ॥
ज्ञान रूप तप पूत अनेका। साधक पाव रूप मम ऐका ॥

११

भजहिं मोहिं जे जाहि हित, तस तिन्ह देहुँ अंजोर।
सबहि पार्थ सब भाँति सों, गहहिं पंथ ही मोर ॥

१२

करमन के फल चहहिं जे, ध्यावहिं देवन सोय।
कर्म उपज अति शीघ्र ही, मनुज लोक सिधि होय ॥

१३

गुण अरु कर्म विभाग विचारी। सरजेहुँ पार्थ वर्ण मैं चारी ॥
यद्यपि तिन्ह सब का हौं करता। जानिय मोहिं अनित्य अकरता ॥

१४

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥

१५

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥

१६

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥

१७

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥

१८

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

१९

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥

२०

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥

१४

कर्म लिप्त मोरे नहिं होई। हृदय कर्म फल चाह न कोई ।।
इमि जानहिं जे निज मन माहीं। तिन कहँ कर्म न बाँधि सकाहीं ।।

१५

जानत तत्व मोक्ष के कामी। पूर्वज रहे कर्म अनुगामी ।।
पूर्वज कर्म करे जेहि भाँती। सोइ तुम कर्म करहु चलि पाँती ।।

१६

कर्म अकर्म भेद अति गूढ़ा। समुझत विज्ञ भये मन मूढ़ा ।।
सो तोहि कर्म कहेहुँ समुझाई। जेहि समुझे भव बन्ध नसाई ।।

१७

जानिय प्रथम कर्म को रूपा। पुनि चित समुझ विकर्म स्वरूपा ।।
चाहिय पुनि अकर्म पहिचाना। करमन की गति गहन सुजाना ।।

१८

कर्म करत जे रहहिं अकर्मा। पुनि अकर्म जे जोहहिं कर्मा ।।
सो जन मनुज मांहि मतिमन्ता। सो योगी कृतकृत्य महन्ता ।।

१९

जिन के सब आरम्भ सुदीना। काम हीन संकल्प विहीना ।।
तपये कर्म ज्ञान कै आगी। पंडित कह तेहि ज्ञान सुरागी ।।

२०

तजि आसक्ति कर्म फल तजहीं। नित सन्तुष्ट निराश्रय रहहीं ।।
सो निज धर्म प्रवृत्ति प्रवर्ता। कछु न करहिं इमि रहहिं अकर्ता ।।

२१

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥

२२

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥

२३

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥

२४

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

२५

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥

२६

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥

२७

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥

२१

तृष्णा तजि इन्द्रिय विजित, त्यक्त परिग्रह व्यर्थ ।
केवल करि सत्कर्म तन, पाव न पाप समर्थ ॥

२२

द्वन्द्व रहित मत्सर रहित, तुष्ट सहज कहँ पाइ ।
सिधि असिद्धि जेहि एक सम, कर्म न बाँधहिं ताहि ॥

२३

कर्म-बंध कर्मन फल मुक्ता । जिन चित स्थिर ज्ञान सशक्ता ॥
यज्ञहि हेतु करत आचरना । ज्ञानहिं लीन होहिं सब कर्मा ॥

२४

साधन ब्रह्म, ब्रह्म हवि नाना । अगनी ब्रह्म, ब्रह्म यजमाना ॥
ब्रह्म रूप धरि कर्म समाधी । पावत ब्रह्म रूप फल साधी ॥

२५

योगी यज्ञ करहिं चित लाई । पूर्ण समर्पित हृदय बनाई ॥
कछु ब्रह्माग्नि ब्रह्म छवि लाई । साधन पन तेहि देहिं उड़ाई ॥

२६

श्रवण आदि इन्द्रिन कँह कोई । संयम अगनि जरावत गोई ॥
शब्द आदि विषयन कछु ऐही । इन्द्रिय अगिनि होम करि देही ॥

२७

अरु कछु इन्द्रिन कर्म प्रसारा । प्राण अपान वायु व्यापारा ॥
होमहिं ज्ञान-प्रकाशहिं लागी । आत्म सुसंयम योगहि आगी ॥

२८

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥

२९

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रूद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥

३०

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥

३१

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥

३२

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥

३३

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥

३४

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

३५

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥

२८

द्रव्य यज्ञ तप यज्ञ बहूता। योग यज्ञ कछु साधै पूता॥
ज्ञान यज्ञ स्वाध्याय उपासी। इनहिं समुझ याज्ञिक संन्यासी॥

२९

प्राणहि होमि अपानहि कोई। अरु कछु प्राण अपान बिलोई॥
कछुक रूँधि गति प्रान अपाना। होहिं परायण प्राणायामा॥

३०

अरु कछु व्रत करि, करि उपवासा। प्राण होम प्राणन परकासा॥
ये सब यज्ञ मरम के वेत्ता। यज्ञ विकर्म पाप-हत चेता॥

३१

यज्ञ शेष अमृत गहे, मिलहि सनातन ब्रह्म।
हे अर्जुन यज्ञहिं तजे, सुख यहि लोक न अन्य॥

३२

यहि विधि बरनित यज्ञ बहु, वेदन अति विस्तार।
कर्मन उपजे यज्ञ सब, समुझि मोक्ष लहु सार॥

३३

द्रव्य यज्ञ सों बड़ि गुरुआई। अर्जुन ज्ञान यज्ञ प्रभुताई॥
सकल कर्म पारथ जग माहीं। एक ज्ञान मां जाइ बिलाहीं॥

३४

करि बहु नमन प्रश्न करि नाना। सेवा करि पावहु तेहि ज्ञाना॥
तव हित ज्ञान करिय उपदेशा। तत्व दरस जिन भयेहु अशेषा॥

३५

हे पांडव समुझत जेहि रूपा। परिय न फेरि मोह के कूपा॥
जेहि ते प्राणी सकल दिखाहीं। निज आत्मा महँ पुनि मोहिं मांहीं॥

३६

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥

३७

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥

३८

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥

३९

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

४०

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥

४१

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥

४२

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

३६

सब पापिन सिर मौर प्रतापी । यदि तुम होउ पाप रत पापी ॥
ज्ञान तरणि चढ़ि पावहु पारा । सब विधि पापन पारावारा ॥

३७

हे अर्जुन जिमि पावक जरही । कठिन काठ कहँ राखी करही ॥
तैसेइ ज्ञान रूप कै आगी । भसम करहि सब करम अभागी ॥

३८

ज्ञान सरिस कतहूँ कछु नाहीं । पावन पूत याहि जग मांहीं ॥
योग विशुद्ध भये सोइ ज्ञाना । बीतत समय मिलहि निज प्राना ॥

३९

ज्ञान लहहिं अति श्रद्धावाना । अरु जिन इन्द्रिय नियमन जाना ॥
पावत ज्ञान तुरत मतिमाना । पावहिं परम शांति निज प्राना ॥

४०

संशय मन श्रद्धा नहिं पासा । अविवेकी सो पाव विनासा ॥
नहिं इहलोक न सुख परलोका । संशय युक्त पाव नित सोका ॥

४१

योग साधना कर्म रत, संशय हनि निज ज्ञान ।
कर्म न बांधहि पार्थ तेहि, जे नित आत्मावान ॥

४२

अज्ञान जन्य संशय हृदय, अर्जुन देहु निकारि ।
ज्ञान असी सो काटि तेहि, उठहु योग चित धारि ॥

श्रीमद्भगवद्गीता पद्यानुवाद का ज्ञान कर्म संन्यास योग नामक
चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

१

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥

श्रीभगवानुवाच—

२

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥

३

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥

४

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥

५

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

६

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥

ॐ श्रीकृष्णाय नमः

पंचम अध्याय

अर्जुन ने पूछा—

१

कृष्ण कर्म संन्यास पुनि, योग प्रशंसेहु दोय।
इन दोनहुँ मँह श्रेष्ठ कौ, कहु निश्चित मत सोय॥

श्रीभगवान् ने कहा—

२

कर्म योग संन्यास दुइ, दोनहुँ सों कल्यान।
तऊ कर्म संन्यास सों, कर्म-योग परधान॥

३

तेहि समुझिय मन नित संन्यासी। जेहि मन इच्छा द्वेष न वासी॥
अर्जुन द्वन्द्व रहित जो होई। सहजहिं बन्धन छूटत सोई॥

४

'सांख्य' 'योग' दुइ, कह अज्ञानी। विलग न मानहिं पंडित ज्ञानी॥
एकहु कहँ विधिवत अपनाये। दोनहुँ कर फल मानव पाये॥

५

जो पद पाव सांख्य संन्यासी। सोइ पद पाव योग उपवासी॥
'सांख्य' 'योग' दुहु एक समाना। जे देखहिं तेइ दृष्टि प्रधाना॥

६

किन्तु योग बिनु अर्जुन राई। संन्यासहु मँह अति कठिनाई॥
योग युक्त मुनि जग मँह जेते। पावहिं ब्रह्म सहज फल तेते॥

७

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥

८

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥

९

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥

१०

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

११

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥

१२

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥

१३

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥

७

चित विशुद्ध युत-योग सचेते। आत्मा विजित जितेन्द्रिय जेते ॥
जिनके प्राण, प्राणि के प्राना। तिनहिं न कर्म लिप्त कर नाना ॥

८

किञ्चित कतहुँ करहुँ मैं नाहीं। तत्व विज्ञ समुझहिं मन मांही ॥
देखत सुनत छुवत जिघ्राता। सोवत, खात, चलत, भरि श्वासा ॥

९

करत विसर्जन बोलत बैना। ग्रहण करत झपकावत नैना ॥
इन्द्रिन इन्द्रिय विषय न उलझै। योगी ताहि तिनहिं विधि समुझैं ॥

१०

कर्म समर्पित ब्रह्म करि, छाड़ि मोह नर जोय।
कमल पत्र जिमि जल-विलग, रहित पाप सो होय ॥

११

तन सों मन सों बुद्धि सों, इन्द्रिन सों कपिकेतु।
छाँड़ि मोह कर्महि करहिं, योगी चित शुधि हेतु ॥

१२

छाड़ि कर्म फल मोह अभोगी। निश्चल शान्ति पाव नित योगी ॥
चंचल चित्त काम जे बरहीं। फल इच्छा करि बन्धन परहीं ॥

१३

मन सों कर्म समर्पित करहीं। नहिं कछु करवावहिं नहिं करहीं ॥
तन यह गेह द्वार नौ अहहीं। सुख सो तहाँ जितेन्द्रिय रहहीं ॥

१४

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥

१५

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥

१६

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥

१७

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥

१८

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

१९

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥

२०

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥

१४

कर्तापन नहि सृजहिं विधाता। नहिं लोगन कर कर्म प्रजाता ॥
नहिं सरजहि फल कर्म सुयोगा। तीनहुँ ताहि प्रकृति के भोगा ॥

१५

गहत न विभु काहू कर पापा। अरु नहिं गहहि पुण्य निष्पापा ॥
ज्ञानहिं झांपि रह्यो अज्ञाना। ताते जीव मोह बहु माना ॥

१६

जिनकर आत्म विषय अज्ञाना। नष्ट भये जिनके हिय ज्ञाना ॥
तिनको ज्ञान सूर्य आकासा। करहि प्रकासित ब्रह्म प्रकासा ॥

१७

तेहि अर्पित बुधि तेहि मन ध्याना। ताहि परायण निष्ठावाना ॥
आत्मज्ञान धवलित सब पापा। पाव न पुनर्जन्म परितापा ॥

१८

ब्राह्मण ज्ञानी विनय स्वरूपा। हाथी गाय एक ही रूपा ॥
श्वान और चांडाल समाना। समदर्शी पंडित जन माना ॥

१९

सरग लियो इह जीत तिन, जिन मन स्थिति साम्य।
दोष विहित अहि ब्रह्म सम, सो तिन ब्रह्महि धाम ॥

२०

हरषत इष्ट न पाय जो, रुष्ट न अप्रिय पाय।
मोह विहित स्थिर बुधी, ब्रह्म विद् ब्रह्म समाय ॥

२१

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥

२२

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥

२३

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥

२४

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥

२५

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥

२६

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥

२७

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥

२१

बाह्य विषय आसक्ति न जेही। अन्तः सुख परमात्महिं तेही॥
ब्रह्म योग युत सो युक्तात्मा। अक्षय सुख पावहि जीवात्मा॥

२२

इन्द्रिय जनित विषय अरु भोगा। कारन सब दुख दारुन जोगा॥
आदि अन्त युत विषय कहानी। तेहि न रमहिं अर्जुन बुध ज्ञानी॥

२३

जीति सकहिं जे राखत देहा। प्रानेहि छूटे बिनु तन गेहा॥
काम क्रोध आवेग संजोगा। सो योगी नर सो सुख भोगा॥

२४

अन्तर सुख अन्तर विश्रामा। अन्तर ज्योति पाव सुख धामा॥
सो योगी धरि ब्रह्म स्वरूपा। पावहिं मोच्छ ब्रह्म कर रूपा॥

२५

कल्मष रहित ऋषी निष्पापा। पाव ब्रह्म निरवान प्रतापा॥
इन्द्रिय जित संशय सों हीना। प्राणि मात्र हित चिन्तन लीना॥

२६

काम क्रोध विरहित अति दीना। यती जाहि चित-वृत्ति अधीना॥
जे परमात्म स्वरूप समुझहीं। तिन्हकें मोक्ष चहूँ दिशि रहहीं॥

२७

बाहर करि बहु विषय दुलारे। बाह्य चक्षु भृकुटी बिच धारे॥
नासा विचरित दोनहुँ श्वासा। प्राण अपान एक करि वासा॥

२८

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥

२९

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥
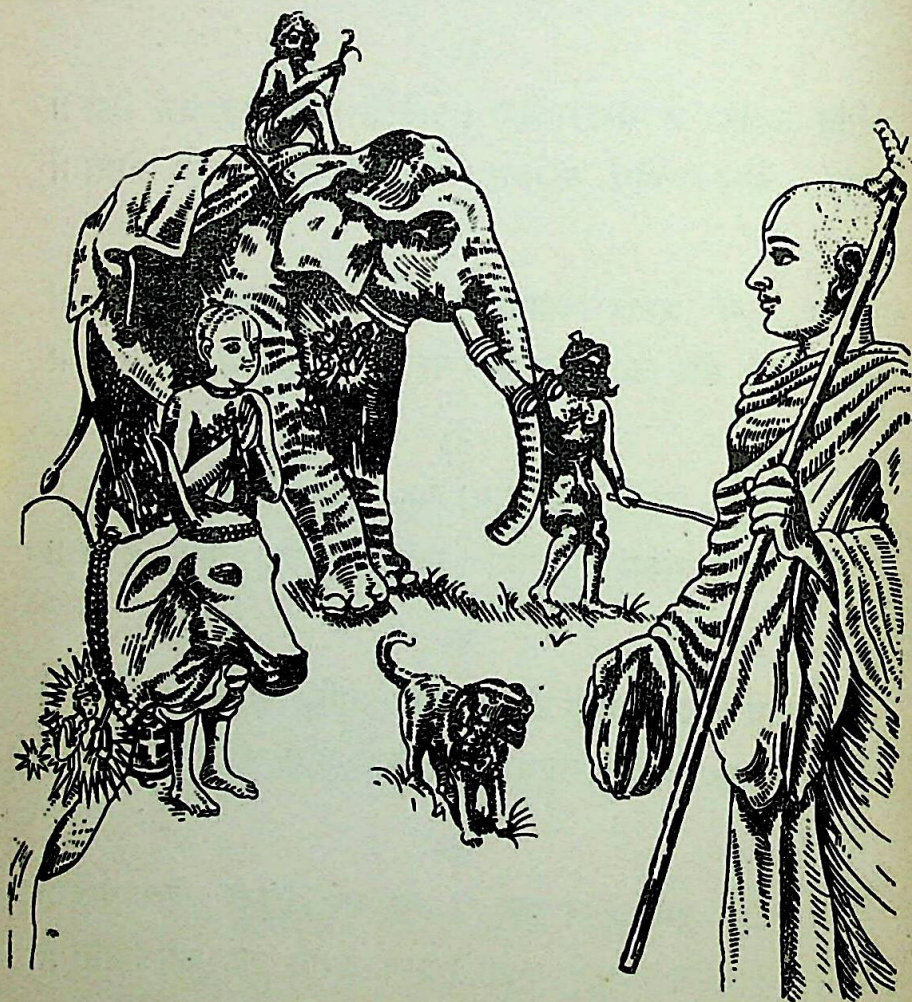
ब्राह्मण ज्ञानी विनय स्वरूपा । हाथी गाय एक ही रूपा ॥
श्वान और चांडाल समाना । समदर्शी पण्डित जन माना ॥ [५.१८]

२८

जिन जीती मन बुद्धि दोउ, मोक्ष परायण होय।
छाड़े इच्छा कोह भय, मुक्त सदा ही सोय॥

२९

भोक्ता तप अरु यज्ञ को, सबको ईश महान।
सब प्राणिन को सुहृद मोंहि, जानि करहिं सुख पान॥

श्रीमद्भगवद्गीता पद्यानुवाद का कर्म संन्यास योग नामक
पंचम अध्याय समाप्त हुआ॥ ५॥

बाह्य विषय आसक्ति न जेही। अन्तः सुख परमात्महिं तेही॥
ब्रह्म योग युत सो युक्तात्मा। अक्षय सुख पावहि जीवात्मा॥ [५.२१]

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ षष्ठोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच —

१

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥

२

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥

३

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥

४

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥

५

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

६

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥

ॐ श्रीकृष्णाय नमः

षष्ठ अध्याय

श्रीभगवान ने कहा—

१

छाँड़ि कर्म फल आस जे, करहिं कर्म निर्विघ्न।
ते योगी तेही यती, नहिं अक्रिय नाहिं निरग्नि ॥

२

अर्जुन कह संन्यास जेहि, योग समुझिये सोय।
कबहुँ तजे संकल्प बिनु, पुरुष न योगी होय ॥

३

मुनि जे चहहिं योग आरूढ़ा। साधन कर्म एक अति गूढ़ा ॥
योगारूढ़ भये तिमि ज्ञानी। शम आधार बतावत प्रानी ॥

४

इन्द्रिय विषय मोह नहिं माया। कर्मासक्ति तजहि नरनाहा ॥
सब संकल्प हीन मतिमाना। सो जग योगारूढ़ बखाना ॥

५

आपुहिं चह आपुहिं उद्धारा। नहिं चाहिय निज पतन सँवारा ॥
आपुहिं मनुज आपनो मीता। आपुहिं आपन अरि अविनीता ॥

६

तन मन इन्द्रिय बुधि जिन जीते। वे निज मीत बंधु निज ही के ॥
किन्तु इनहिं जे जीतत नाहीं। वे रिपुवत निज शत्रु कहाहीं ॥

७

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥

८

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥

९

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥

१०

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥

११

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥

१२

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥

१३

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥

७

इन्द्रिय जित जे शान्त स्वरूपा। शीत-उष्ण सुख-दुख इक रूपा॥
मान मिले चाहे अपमाना। परम समाहित सबहिं लखाना॥

८

तृप्त भये जे ज्ञान विज्ञाना। इन्द्रियजित अविचल मतिमाना॥
माटी पाथर सुवर्न समाना। सो योगी जग युक्त बखाना॥

९

सुहृत स्वयं अरि मीत तटस्था। बान्धव अरु द्वेषी मध्यस्था॥
पापी-साधु एक सम जाना। सो विशिष्ट जेहि बुद्धि समाना॥

१०

प्रथम बसहि एकांत सँजोई। पुनि निज प्राण परम मंह गोई॥
एकाकी मन चित वश करही। आशा तजहि परिग्रह तजही॥

११

स्थल देखि पवित्र पुनि, लखि बहु ऊँच न खाल।
आसन स्थिर करहि निज, कुस बिछाइ मृग-छाल॥

१२

तहं करि निज एकाग्र मन, वश करि इन्द्रिय चेतु।
साध योग आसन बइठि, आत्म-शुद्धि के हेतु॥

१३

ग्रीवा शीश काय सम करही। निश्चल एक पांति मंह धरही॥
चहुँ दिशि से निज दीठि हटाई। देहि नासिका शिखर लगाई॥

१४

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ।।

१५

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ।।

१६

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ।।

१७

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।।

१८

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ।।

१९

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ।।

२०

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ।।

१४

पुनि प्रशान्त चित तजि भयभीरा। ब्रह्मचर्य व्रत स्थिर धीरा ॥
मन-संयम चित मोहिं बसावै। एक चित्त मम ध्यान लगावै ॥

१५

यहि विधि जोरि परम सों प्रीती। सो योगी निज मन कहं जीती ॥
परम मोक्षमय मम उर गामी। शांति पाव नित मम अनुगामी ॥

१६

ध्यान योग सम्भव नहिं तिनहीं। जे अति खायं जे अनशन करहीं ॥
अरु नहिं सम्भव अरजुन उनहीं। जे अति सोवहिं जे अति जगहीं ॥

१७

परिमित जिन आहार विहारा। परिमित जिन करमन व्यापारा ॥
परिमित सोवत जागत देही। तेहि दुख ध्यान योग हरि लेही ॥

१८

बहु विधि चित्त नियंत्रण धारी। बसहि शान्त निज आत्म मझारी ॥
निस्पृह सकल कामनाहीना। सो कहाव जग परम विलीना ॥

१९

पवन शून्य थल दीपक पाई। रहहि अकम्पित गहि थिरताई ॥
सोइ उपमा योगी दत-चित की। ध्यान योग सुनियोजित मन की ॥

२०

जंह अति शान्ति पाव चित दीन्हें। ध्यान-योग धारण चित कीन्हें ॥
जंह आत्मा सों आत्मा देखी। पाव आत्म मंह तुष्टि विशेषी ॥

२१

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥

२२

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥

२३

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥

२४

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥

२५

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥

२६

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥

२७

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥

२१

बुद्धि ग्राह्य इन्द्रिय परे, जंह सुख अति निर्व्याधि ।
विचलित होय न तत्वसों, स्थिति पाइ समाधि ॥

२२

जेहि समाधि सुख सों अधिक, लाभ न मानत कोय ।
अरु जेहि स्थिति घोर दुख, मिलत न विचलित होय ॥

२३

दुख संयोग समाधि वियोगा । तेहि संज्ञा समुझिय पुनि योगा ॥
चित प्रसन्न दृढ़ निश्चय ठानी । साधिय योग समाधि सुहानी ॥

२४

संकल्पन जे जनमहिं ऐषा । तजहि तिनहिं पुनि करहि अशेषा ॥
मनसों इन्द्रिन संयत राखी । सब विधि राखहि संयम साखी ॥

२५

मुक्त विकार होहि इक एका । धीरज मय धरि बुद्धि विवेका ॥
मन करि वश परमात्महिं धारै । अन्य विषय कछु नाहिं विचारै ॥

२६

जंह जंह भटकै मन भरमाई । चंचल मन अस्थिरता पाई ॥
तंह तंह से तेहि लेइ हटाई । आत्मावश पुनि खींचि लगाई ॥

२७

जेहि मन केवल शान्ति प्रभावा । जेहि रस रज गुण भाव अभावा ॥
कल्मष रहित ब्रह्म मय योगू । पावत सुख अतिशयतम भोगू ॥

२८

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ।।

२९

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।।

३०

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।।

३१

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।।

३२

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।।

अर्जुन उवाच—

३३

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ।।

३४

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।।

२८

यहि विधि ध्यान समाधि लगाई। योगी पाप समूल विहाई ॥
सहजहि ब्रह्म-स्पर्श महंता। अनायास सुख पाव अनंता ॥

२९

प्राणि मात्र मँह आत्म स्वरूपा। निज आत्मा मँह प्राणिन रूपा ॥
योग युक्त आत्मा जे धरहीं। सब कहुँ दरस परम कर करहीं ॥

३०

जो मोहिं सब कहुँ लखहि समाना। लखहि जगत के मो मँह प्राना ॥
तिन हित नष्ट प्राय मैं नाहीं। अरु वे नष्ट न मोहिं लखाहीं ॥

३१

जे इक तत्व परम थिर होहीं। भजहिं सकल जग व्यापक मोहीं ॥
सब विधि वर्तमान अविरामा। सो योगी रह मम उर धामा ॥

३२

निज अनुभव अर्जुन मतिमाना। चाहिय पर सुख दुख पहिचाना ॥
पर सुख दुख निज करि जिन माना। सो योगी अति श्रेष्ठ बखाना ॥

अर्जुन ने पूछा—

३३

साम्य योग प्रभु कहेउ जो, मधु सूदन रिझिवार।
लखहुँ न थिरता ताहि लखि, चंचल मन व्यापार ॥

३४

चंचल मन हे कृष्ण अति, प्रमथ हठी बलवान।
तेहिते निग्रह अति कठिन, मानहुँ वायु समान ॥

श्रीभगवानुवाच—

३५

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

३६

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥

अर्जुन उवाच—

३७

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥

३८

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥

३९

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता नह्युपपद्यते ॥

श्रीभगवानुवाच—

४०

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥

४१

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥

श्रीभगवान ने कहा—

३५

पारथ मन निग्रह कठिनाई। निःसंशय मन अति चपलाई।।
पै अरजुन मन चाहिय सांसा। गहि बैराग किये अभ्यासा।।

३६

जिन मन संयम नाहिं अँजोरे। तिन कहं योग कठिन मत मोरे।।
जिन निज वश कीन्हें मन भाऊ। तिन सम्भव करि जतन उपाऊ।।

अर्जुन ने पूछा—

३७

श्रद्धायुत पै योग वितृष्णा। योग भये मन विचलित कृष्णा।।
सिद्धि समाधि योग फल खोई। योग भ्रष्ट गति कहु का होई।।

३८

साधन योग सिद्धि फल नष्टा। दोनहुँ कृष्ण भये जदि भ्रष्टा।।
ब्रह्म प्राप्ति पथ विचलित सोई। कहु का छिन्न मेघ सम होई।।

३९

काटि सकहु यह संशय भारी। तुमहीं केवल कृष्ण मुरारी।।
तुम बिनु अन्य न संशय हारी। अरु न दीख कोऊ अधिकारी।।

श्रीभगवान ने कहा—

४०

नहिं यहि लोक न पुनि परलोका। पारथ विनसहि योग असोका।।
मोच्छ मार्ग हित साधक ताता। विचलेहु पाव न दुर्गति तापा।।

४१

कृत बहु पुण्य लोक सुख पाई। दीर्घ समय सुख मांहि बिताई।।
सुख समृद्धि मय शुचि गृह पाई। योग भ्रष्ट तँह जन्महिं जाई।।

४२

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ।।

४३

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ।।

४४

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्मातिवर्तते ।।

४५

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।।

४६

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपिमतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ।।

४७

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ।।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ।। ६ ।।

४२

अथवा जन्महिं जोगिन माहीं। जिन कुल बुद्धि विवेक सोहाहीं ॥
ऐसो जनम जगत यहि नाईं। दुर्लभतर अति कठिन लखाई ॥

४३

बुधि संयोग जनम ते पावै। पूर्वजन्म अभ्यास समावै ॥
करहि सिद्धि हित पुनः प्रयासा। कुरुनन्दन थोरेड अभ्यासा ॥

४४

पूरव जनम किये अभ्यासा। अवश खिंचहि वह योग सुपासा ॥
योग हेतु जिन मँह जिज्ञासा। लाँघहिं शब्द-ब्रह्म परकासा ॥

४५

करि बहु यत्न करहिं अभ्यासा। कल्मष रहित शुद्ध विन्यासा ॥
जनम जनम तप सिद्धिहिं भोगी। मोक्ष परम गति पावत योगी ॥

४६

तापस से योगी अधिक, ज्ञानिहुँ से अधिकाय।
कर्म निरतहू योग बड़, चित तंह देहु रमाय ॥

४७

निज-अन्तर मँह मोहि धरे, सो सब योगिन जेष्ठ।
श्रद्धा युत मो कहं भजे, सो मोरे मत श्रेष्ठ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता पद्यानुवाद का आत्म संयम योग नामक
षष्ठ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ सप्तमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

१

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥

२

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥

३

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

४

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥

५

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥

६

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥

ॐ श्रीकृष्णाय नमः

सप्तम अध्याय

श्रीभगवान ने कहा—

१

मनासक्ति मो पंह धरे, मम आश्रित गहि योग ।
पार्थ असंशय पूर्ण मोहिं, जिमि जानिय सुनु सोय ॥

२

ज्ञान सोइ विज्ञान युत, कहहुँ तोहि सविशेष ।
जाहि समुझि यह जगत मँह, ज्ञान न दूजो शेष ॥

३

मनुज सहस्रन यहि जग माँही । तंह बिरले सिधि साधि समाहीं ॥
अरु तिन साधक सिद्धि स्वरूपा । बिरलेहि समुझ मोर सत्‌रूपा ॥

४

क्षिति जल पावक पवन अकासा । सूक्ष्म तत्त्व इमि पांच प्रकासा ॥
मन बुधि अहंकार सम्भारी । इमि मम प्रकृति आठ गुन धारी ॥

५

किन्तु प्रकृति यह अठगुन धारी । पारथ निबल निकृष्ट विचारी ॥
जीव स्वरूप प्रकृति मम भिन्ना । धारहिं जगत सशक्त अछिन्ना ॥

६

समुझिय इन दुइ प्रकृति सहारे । जनमहि जग अरु प्राणी सारे ॥
जगत प्रगट मोरे बल होई । पुनि मम कारन प्रलय विलोई ॥

७

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

८

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥

९

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥

१०

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥

११

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥

१२

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥

१३

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥

७

मोहि ते अपर कतहुँ कुछ नाहीं। हे अर्जुन समुझिय मनमाहीं॥
सगरी मणि इक धाग पिरोई। तिमि यहु जग मम गुम्फित होई॥

८

जल बिच रस मैं पाण्डु कुमारा। शशि अरु सूर्य प्रभा अधारा॥
मैं ही वेद प्रणव ओंकारा। शब्द गगन नर-पौरुष धारा॥

९

पृथवी पुण्य गन्ध मैं एका। तेज अगनि कर मैं सविवेका॥
जीवन शक्ति प्राणि अविरामा। मैं तपसिन कर तप अभिरामा॥

१०

सब प्राणिन को बीज सनातन। जानिय पार्थ मोंहि जग कारन॥
मैं ही बुधि वैभव बुधिमंता। तेजस्वी कर तेज अनंता॥

११

बलवानन को मैं बल भारी। जहं नहिं काम राग पैठारी॥
प्राणिन हेतु धरम को धामा। भरत श्रेष्ठ सो मैं ही कामा॥

१२

सात्विक राजस तमस सुभावा। सबके सब मम अन्तर भावा॥
एकहि तत्व समुझ मनमाहीं। वे मो मंह मैं उन मंह नाहीं॥

१३

सत रज तम गुण मथित है, मोहित सब संसार।
मोंहि न जानहिं नहिं भजै, अव्यय रूप अधार॥

१४

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

१५

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥

१६

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भारतर्षभ ॥

१७

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥

१८

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥

१९

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

२०

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥

१४

मम माया तिरगुण मयी, दुस्तर दिव्य अपार ।
जोइ शरण मोरी गहे, सोई पावहि पार ।।

१५

दुष्कर्मी मूरख मति वारे । आसुरि वृत्ति नराधम धारे ।।
माया अपहृत चित मन ज्ञाना । मोरी शरण धरहिं नहिं ध्याना ।।

१६

हे अर्जुन जे सुकृति पुनीता । वे ध्यावहिं मोहिं चारिहि रीता ।।
आरत जित, जिज्ञासु अधीरा । अर्थार्थी पुनि ज्ञान गंभीरा ।।

१७

तिन मंह ज्ञानी नित संयुक्ता । एकात्म भक्ति परमात्मा भक्ता ।।
ज्ञानी कंह में अधिक पियारा । अरु तैसेइ सो मोर दुलारा ।।

१८

भगत उदार सबहिं कहं मानौं । ज्ञानिहिं निज आत्मा सम जानौं ।।
एक रूप युत परमहिं ध्यावै । उत्तम गति मोरी ही पावै ।।

१९

बहुते जनम बिताइ अनेका । ज्ञानी पावहि मम पद एका ।।
सब जग वासुदेव मय जानी । ऐसे दुर्लभ संत सुज्ञानी ।।

२०

काम पिपासा अपहृत ज्ञाना । निज प्रकृति वश विवश अयाना ।।
बहु नियमन विश्वास जमावै । देवन अन्य शरण चितलावै ।।

२१

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥

२२

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥

२३

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥

२४

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥

२५

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥

२६

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥

२७

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥

२१

जो जो जिन जिन रूप हमारे। पूजन चह उर श्रद्धा धारे॥
उन उनकी श्रद्धा उन मांही। करहुँ अचल मैं छाड़हुँ नाहीं॥

२२

अरु वे तेहि श्रद्धावस होई। देव अराधहिं पुनि-पुनि सोई॥
जेहि आराधि कामना लाभू। पावहिं जो मम उपज अबाधू॥

२३

पै तिन मति मन्दन उरवासी। श्रद्धा फल अति सहज बिनाशी॥
देवन अरचि पाव नर स्वर्गा। मोरे भगत मोर संसर्गा॥

२४

नित अव्यक्त रूप मम गूढ़ा। समुझहिं व्यक्त प्रगट मन मूढ़ा॥
अक्षय अति उत्कृष्ट स्वरूपा। समुझहिं नहिं मम पावन रूपा॥

२५

मैं निज माया योग समाई। सब पर प्रगट होऊं नहिं जाई॥
मोहिं अज अव्यय कहं जगमांही। ये मूरख जन जानत नाहीं॥

२६

मैं जानहुँ जे जीव अतीता। अरजुन वर्तमान परतीता॥
जानहुँ मैं आगत जो होई। पै नहिं जानत मों कहं कोई॥

२७

इच्छा द्वेष समुद्भव पाई। सुख दुख द्वन्द्व पार्थ चित लाई॥
सगरे जीव भरे संमोहा। जनमत परहिं पंरतप मोहा॥

२८

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ।।

२९

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ।।

३०

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ।।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ।। ७ ।।

मैं अज अव्यय आदि अनन्ता । सब प्राणिन को ईश नियन्ता ।।
निज माया निज वश कै राखी । जनमहुँ निज समरथ करि साखी ।। [४.६]

२८

जिन जीवन के पाप नसाये। पुण्य कर्म आधार बनाये॥
वे हुइ मुक्त मोह के द्वन्दा। मोहि भजहिं दृढ़ व्रतहिं अनंदा॥

२९

जरा मरण सो मुक्ति हित, जतन करहिं मो लाय।
अखिल कर्म अध्यात्म अरु, ब्रह्महु तिनहि लखाय॥

३०

साधि-भूत अधिदैव पुनि, अधि-यज्ञी मोहि जान।
निर्वाण समय हू युक्त चित, भक्त मोहि पहिचान॥

श्रीमद्भगवद्गीता पद्यानुवाद का ज्ञानविज्ञान योग नामक
सप्तम अध्याय समाप्त हुआ॥ ७॥

निमिष मात्र मंह तिन्हहि उधारौं। भव सागर सो पार उतारौं॥
जिनके मन मम पद अनुरागी। देर करहुँ नहि, उन हित लागी॥ [१२.७]

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ अष्टमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

१

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥

२

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥

श्रीभगवानुवाच—

३

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥

४

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥

५

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥

६

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥

ॐ श्रीकृष्णाय नमः

अष्टम अध्याय

अर्जुन ने पूछा—

१

कौन ब्रह्म अध्यात्म कस, कौन कहावै कर्म।
अधिभूत अधिदैव पुनि, कृष्ण कहहु सो मर्म॥

२

को अधि-यज्ञ स्वरूप इह, मधुसूदन तन मांहि।
मृत्यु समय नियतात्म कँह, कैसे देहु जनाहि॥

श्रीभगवान् ने कहा—

३

अक्षर ब्रह्म परम परमात्मा। ताहि सुभाव सगुण अध्यात्मा॥
जेहि लगि पंचभूत उपजावै। सो सक्रियता कर्म कहावै॥

४

सो अधिभूत जो नष्ट स्वभावा। तन पौरुष अधिदैव कहावा॥
सब देहिन मंह श्रेष्ठ सचेता। मैं अधियज्ञ जीव शुध एका॥

५

मृत्यु समय सुधि मोरी लाई। जाहि जवन तन धूरि मिलाई॥
सो मम भाव सहज ही पावा। संशय चित नहि चाहिय लावा॥

६

जेहि जेहिं की सुधि डूबे प्राना। तजहिं कलेवर पाइ प्रयाना॥
सो तेहिं रँग डूबे तेहि भावा। अर्जुन जनमत पुनि तेहि पावा॥

७

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

८

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥

९

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥

१०

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

११

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥

१२

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥

१३

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥

७

तेहि ते प्रति क्षण भरि प्रति श्वासा । युद्ध करहु मन धरि मम पासा ।।
मोहि अरपित करि मन बुधि दोऊ । पइहौ मोंहि, न संशय कोऊ ।।

८

अभ्यास योग युत चित्त बनाई । दूजे विषयन चित्त हटाई ।।
पारथ परम ध्यान धरि ध्यावै । दिव्य पुरुष परमहिं सो पावै ।।

९

जो ध्यावे सर्वज्ञ अनंता । अणु मंह अणु नित जगत नियंता ।।
चिंतन परे, परे अँधकारा । सूर्य वर्ण सबको धातारा ।।

१०

मृत्यु समय स्थिर करि चित्ता । धारे योग प्रबल बल भक्ता ।।
भृकुटी बीच प्रान कहँ थापी । पावहि दिव्य पुरुष परतापी ।।

११

वेद विज्ञ जेहि अक्षर कहहीं । वीतराग यति जहँ पग धरहीं ।।
पालहिं ब्रह्मचर्य जेहि लिप्सा । सो पद तोहि कहहुँ संक्षिप्सा ।।

१२

संयम रूधहिं इन्द्रिय द्वारा । पुनि रुधहिं मन हृदय विकारा ।।
मस्तक करि स्थापित प्राना । धारहि योग पुरुष मति माना ।।

१३

अक्षर ब्रह्म ओऽम् इकनामा । जपहि पुकारहि धरि मम कामा ।।
सुमिरत मोहिं जे छाड़हिं देहा । पाव प्रयान परम गति ऐहा ।।

१४

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ।।

१५

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ।।

१६

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।।

१७

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ।।

१८

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ।।

१९

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ।।

२०

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ।।

२१

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।।

१४

चित अनन्य धरि पार्थ जे, नित सुमिरहिं मन मोहिं ।
तेहि योगी कहं सुलभ मैं, योग-युक्त जो होहिं ॥

१५

सिद्धि परम गति पाय वे, प्राप्त करहिं पुनि मोय ।
परम अशाश्वत दुःख-गृह, जनम न दूजो होय ॥

१६

ब्रह्म लोक तक सिगरे लोका । जनम मृत्यु मय पारथ सोका ॥
पै कौन्तेय पाव जे मोही । पुनर्जन्म तिनके नहिं होही ॥

१७

एक सहस्र युगहि परयन्ता । दिवस ब्रह्म को रहहि महन्ता ॥
युग सहस्र लगि रैन बखानै । जे जन रैन दिवस गति जानै ॥

१८

सगरी सृष्टि अव्यक्तहिं लाई । उपजहिं ब्रह्म दिवस कहँ पाई ॥
रात्रि भये अव्यक्त अधीना । सृष्टि होय पुनि प्रलय विलीना ॥

१९

अर्जुन प्राणि समूह सुदीना । जनमि जनमि पुनि होहि विलीना ॥
रात्रि गये पारथ विनसाई । दिवस भये पुनि जन्महि आई ॥

२०

तेहि अव्यक्त परे गति पावा । दूजो भाव सनातन भावा ॥
सब प्राणिन कर होत विनासा । विनसहि नहिं सो तत्व प्रकासा ॥

२१

सोइ अव्यक्त इक अक्षर भावा । सोइ परम गति भाव कहावा ॥
जेहि पाये पुनि जगत न आवै । परम धाम सो मोर कहावै ॥

२२

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥

२३

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥

२४

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥

२५

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥

२६

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥

२७

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥

२८

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

२२

जेहि अन्तर सब प्राणि निवासी । अरु जो पार्थ सकल जग-वासी ॥
सोई परम पुरुष अव्यक्ता । सुलभ अनन्य भक्ति हित भक्ता ॥

२३

योगी करि जेहि समय प्रयाना । लहहिं मोक्ष, अरु जनम विधाना ॥
ताहि विशेष समय प्रभुताई । हे अर्जुन तोहि कहहुँ सुनाई ॥

२४

अग्नि ज्योतिमय दिवस प्रकासा । पक्ष शुक्ल उतरायन छह मासा ॥
तेहि प्रयान करि छाड़हि देही । सो ब्रह्मज्ञ ब्रह्म गहि लेही ॥

२५

धूम्र रात्रि पख कृष्ण विकासा । अरु दक्षिनायन के षड्मासा ॥
ऐसे काल तजत तन योगी । लौटहिं चन्द्र ज्योति कहँ भोगी ॥

२६

शुक्ल पक्ष, पछ कृष्ण कहाहीं । शाश्वत पथ दोऊ जग माहीं ॥
इक पर चलहि मोक्ष पद पावै । दूजे चलि पुनि जग महँ आवै ॥

२७

पार्थ यती इन पन्थ दुइ, समुझि न मोहित होय ।
तेहिते अर्जुन सकल क्षण, योगहि देहु डुबोय ॥

२८

वेद यज्ञ तप दान महँ, बरनित जे फल पुन्य ।
सो सब लांघे परम पद, योगी पावत धन्य ॥

श्रीमद्भगवद्गीता पद्यानुवाद का अक्षर-ब्रह्म योग नामक
अष्टम अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ नवमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

१

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥

२

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥

३

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥

४

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥

५

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥

६

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥

ॐ श्रीकृष्णाय नमः

नवम अध्याय

श्रीभगवान ने कहा—

१

अब अति गुह्य कहहुँ तोहि, ज्ञान, अनुभव सों युक्त ।
दोष दृष्टि से दीन जेहि, समुझि होहु भव मुक्त ॥

२

राज-विद्या अति गूढ़ यह, अति पवित्र उत्कृष्ट ।
प्रत्यक्ष ज्ञान युत धर्म यह, अव्यय सुलभ सुदृष्ट ॥

३

यहि धरमहिं जिन श्रद्धा नाहीं । पार्थ पुरुष मोहि नाहिं समाहीं ॥
जनम मरण युत यह संसारा । फिर फिर परहिं तजे आधारा ॥

४

रूप अव्यक्त मोर नित पाई । सकल जगत नित व्याप्त लखाई ॥
सकल प्राणि मो माँहिं बसाहीं । किन्तु रहहुँ नहिं मैं उन मांही ॥

५

मन आत्मा स्थित नहिं प्राणी । देखहु ईश योग मम ज्ञानी ॥
पोषक प्राणि, न प्राणि निवासू । प्राणि भाव मम आत्म प्रकासू ॥

६

जिमि सर्वत्र चलत आभासा । स्थिति रहहि पवन आकासा ॥
तैसेइ सब प्राणिन जग मांही । स्थिति समुझ नित्य मोहि पांहीं ॥

७

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥

८

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥

९

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥

१०

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥

११

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥

१२

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥

१३

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥

७

हे कौन्तेय भये क्षय कल्पा । पाव प्राणि मम प्रकृति विकल्पा ॥
कल्पारम्भ समय पुनि पाई । सिरजहुँ इनहिं पुनः मैं आई ॥

८

मैं निज प्रकृति किये वश मांही । पुनि पुनि इनहिं सृजहुँ जग मांही ॥
सब प्राणिन चर-अचर सँजोई । अवश प्रकृति माया वश जोई ॥

९

मो कहं कर्म न बांधहि कबहूँ । बन्धन हीन धनंजय रहहूँ ॥
मैं सब करमन रहहुँ उदासा । सब करमन करि मोह विनासा ॥

१०

मोहिं अध्यक्ष समक्ष सहारे । प्रकृति जनहिं जड़ चेतन सारे ॥
तेहि कारन कौन्तेय सदाई । जगत चक्र यहु चलत चलाई ॥

११

आश्रित मोरी मनुज तन, करहि अवज्ञा मूढ़ ।
परम भाव मम समुझ नहिं, भूत महेश्वर गूढ़ ॥

१२

नष्ट ज्ञान अरु कर्म पुनि, नष्ट आस चित भृष्ट ।
मोह मयी राक्षस असुर, प्रकृति होहिं आकृष्ट ॥

१३

किन्तु पार्थ जे अहहिं महात्मा । दैवी प्रकृति सुआश्रित आत्मा ॥
मूल तत्व अव्यय मोहिं जानी । नित अनन्य चित ध्यावहिं ज्ञानी ॥

१४

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥

१५

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥

१६

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥

१७

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च ॥

१८

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥

१९

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥

२०

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥

१४

सतत करत कीर्तन मन मोरा । इन्द्रिय जित दृढ़ व्रत धरि घोरा ॥
वन्दहिं मोहिं, मोरे ढिग नमहीं । भगति भरे मम पूजा करहीं ॥

१५

ज्ञान यज्ञ मँह चित्त डुबाई । अन्य मोहिं पूजहिं चित लाई ॥
कहुँ इक दीठि, पृथक कहुँ धरहीं । बहु विधि विश्वरूप मोहि भजहीं ॥

१६

यज्ञ स्वयं मैं, मैं संकल्पा । स्वावलम्ब मैं औषधि कल्पा ॥
मैं ही घृत, मैं मंत्रसुगीता । हवन कर्म अरु अग्नि पुनीता ॥

१७

मैं संसृति की जननी माता । पिता पितामह और विधाता ॥
जानन योग्य पूत ओङ्कारा । ऋग्, युज, साम वेद आधारा ॥

१८

मैं गति, भरता, प्रभु विश्वासा । साक्षी, आश्रय, सुहृद, निवासा ॥
प्रभव, प्रलय, स्थान, निधाना । मैं अज अव्यय बीज विधाना ॥

१९

मैं ही तपहुँ सूर्य कहलाऊँ । वरखा खीचहुँ अरु बरसाऊँ ॥
मोक्ष मृत्यु पारथ मैं दोऊ । मैं ही सत् अरु असत् कि सोऊ ॥

२०

सोम पियहिं चित वेदन धरहीं । यज्ञन तोषि स्वर्ग गति चहहीं ॥
पुण्य लोक वे सुर पुर धावैं । स्वर्गहिं दिव्य देव सुख पावैं ॥

२१

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥

२२

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

२३

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

२४

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥

२५

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥

२६

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

२७

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

२१

भोगि विशाल स्वर्ग सुख ऐही । क्षीण पुण्य पुनि प्रविशहिं देही ॥
यहि विधि वैदिक पथ अनुगामी । आवागमन पाव फल कामी ॥

२२

भाव अनन्य चिन्तन चित जोरी । जो जन करहिं साधना मोरी ॥
तिन भगतन नित ईश अधीना । योग क्षेम मैं निज करि लीना ॥

२३

अन्य देव पूजहिं मनुज, श्रद्धा भक्ति समेत ।
तेऊ पूजहिं मोहिं कँह, यद्यपि अविधि अचेत ॥

२४

भोगी सिगरे यज्ञ को, मैं ही प्रभु सब केर ।
जानहिं तत्व न मोर जे, पथच्युत होहिं अबेर ॥

२५

देवनिष्ठ देवन ढिग जाँही । पितरनिष्ठ पुनि पितरन पाहीं ॥
भूतनिष्ठ भूतन कँह पावैं । पावहिं मोहिं, जे मो कंह ध्यावैं ॥

२६

जो मोहिं पत्र पुष्प फल पानी । अरपित करहि भगति रस सानी ॥
शुद्ध हृदय भरि भक्ति अपारा । सो मैं करहुँ सहज स्वीकारा ॥

२७

जो कछु करहु, करहु जो भोजन । यज्ञ करहु जे दान विमोचन ॥
तप साधहु हे अर्जुन जोई । करहु समर्पित मों कंह सोई ॥

२८

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥

२९

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

३०

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

३१

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

३२

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

३३

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥

३४

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

२८

अशुभ शुभन फल देवनिहारे। कर्म बन्ध सों छूटिय सारे॥
सन्यास योग युत आपु बनाई। पूर्ण-मुक्त लेहहु मोहिं पाई॥

२९

मैं इक सम सब प्राणिन माँही। मो कहँ प्रिय द्वेषी कोउ नाहीं॥
किन्तु भगति मय जे मोहिं भजहीं। मैं उन महँ वे मों मँह रहहीं॥

३०

जदपि दुराचारी अति कोई। भक्ति अनन्य भजहिं मोहिं खोई॥
ताहि मानिये साधु समाना। सदाचार कृत निश्चय वाना॥

३१

शीघ्रहिं होय धरम बल धारी। पावहि शाश्वत शांति अपारी॥
हे कौन्तेय भक्त जे मोरे। निश्चय समुझ न विनसहिं भोरे॥

३२

हे पारथ गहि आश्रय मोरा। पाप योनि गत जीव अघोरा॥
स्त्री वैश्य शूद्रहू जेते। परम परम गति पावहिं तेते॥

३३

कहँ फिर ब्राह्मण पुण्य युत, क्षत्रिय भक्ति विभोर।
नित अनित्य सुख हीन जग, पाइ भजन करु मोर॥

३४

मन मो मँह धीर भक्ति मम, यज्ञ नमन हित मोरि।
यहि विधि पावहु मोहिं तुम, मों सन आत्मा जोरि॥

श्रीमद्भगवद्गीता पद्यानुवाद का राजविद्या राजगुह्य योग नामक
नवम अध्याय समाप्त हुआ॥ ९॥

ॐ श्री परमात्मने नमः

अथ दशमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

१

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥

२

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥

३

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

४

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥

५

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥

६

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥

श्रीकृष्णाय नमः

दशम अध्याय

श्रीभगवान् ने कहा—

१

हे अर्जुन तुम पुनि सुनहु, बचन श्रेष्ठतम मोर।
कहहुँ जिनहिं संतुष्टि हित, लखि हित केवल तोर॥

२

मम प्रभाव जानत नहीं, ऋषि कुल सुरगण कूल।
देवन और महर्षि को, मैं ही सरवस मूल॥

३

जो मोंहि अज अनादि करि जानै। लोक महेश्वर सम पहिचानै॥
सो न परहि मर्त्यन के मोहा। मुक्त रहहि सब पापन छोहा॥

४

बुद्धि ज्ञान अरु मोह विरसता। सत्य क्षमा दम शान्ति सरसता॥
सुख-दुख अरु उत्पत्ति-विनासा। भय अरु अभय भाव परकासा॥

५

समता तुष्टि अहिंसा दाना। यश अपयश तप वृत्ति महाना॥
भिन्न भिन्न प्राणिन उर भावा। उपजहिं मोरे ही परभावा॥

६

प्रथम सप्त ऋषि अति विद्वाना। पुनि जनमे मनु चारि महाना॥
मोरेहि मन संकल्पहिं पाई। जिन सब प्रजा जगत उपजाई॥

७

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥

८

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥

९

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥

१०

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

११

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥

अर्जुन उवाच—

१२

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥

१३

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥

७

मम विभूति यह जिन जिन जानी । अरु मम योग शक्ति पहिचानी ।।
सो नर निश्चल योग समाहीं । अविकम्पित कछु संशय नाहीं ।।

८

मैं जग मूल सबहि को कारन । मैं ही जगत प्रवृत्ति सनातन ।
इमि समुझत मन भक्ति विलीना । ज्ञानी मोर भजन नित कीना ।।

९

भगत करहिं नित कीर्तन मोरा । तुष्ट रहहिं रममान विभोरा ।।
मो महं चित धरि मो महं प्राना । करत परस्पर बोध प्रदाना ।।

१०

चित नित युक्त मोहि सन करहीं । अरु मोहिं भक्ति भाव भरि भजहीं ।।
तिनहिं देहुँ बुधि याग सशक्ता । जेहि पाये मोहिं पावहिं भक्ता ।।

११

मैं उन पर करि दया बहु, अज्ञान जन्य तम वेग ।
बिनसहुँ उनके हृदय बसि, ज्ञान दीप के तेज ।।

अर्जुन ने पूछा—

१२

परम धाम परब्रह्म तुम, व्यापक परम पवित्र ।
पुरुष सनातन दिव्य तुम, आदि देव अज नित्य ।।

१३

तव स्वरूप जो ऋषिन बतावा । देव ऋषी नारद सोइ गावा ।।
असित व्यास देवल सो बानी । सोइ कहेउ तुम मोहिं बखानी ।।

१४

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥

१५

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥

१६

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥

१७

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥

१८

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥

श्रीभगवानुवाच—

१९

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥

२०

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥

१४

मानहुँ सत्य सबहि हिय सोई। केशव कहेउ मोहि सन जोई॥
रहित उपाधि रूप प्रभु तोरा। जान न देव दनुज जग घोरा॥

१५

आपु आपु कहँ जानहु स्वामी। हे पुरुषोत्तम नित्य अकामी॥
हे भूतेश जनक प्राणिन के। देव देव पालक जगती के॥

१६

तुम केवल कहि सकहु अशेषा। आत्म विभूति दिव्य सविशेषा॥
जेहि विभूति यहि लोक समाई। बसहु सदा तुम हे यदुराई॥

१७

केहि विधि जानहुँ तुम कहं योगी। मैं क्षण क्षण तव चिन्तन भोगी॥
केहि केहि भाव कृष्ण चित लाई। तोरे चिन्तन जाहुँ समाई॥

१८

विस्तारहिं प्रभु कहु निज योगा। अरु पुनि निज विभूति संयोगा॥
पुनि प्रभु कहहु तृप्ति नहिं मोरे। सुनत शब्द अमृतमय तोरे॥

श्रीभगवान् ने कहा—

१९

हे अर्जुन तोहि कहहुँ बखानी। दिव्य विभूति अपनि करि जानी।
मुख्य रूप सों सूक्ष्म प्रकारा। अन्त नाहिं इनके विस्तारा॥

२०

हे अर्जुन आत्मा बनि बसहूँ। सब प्राणिन मंह स्थित रहहूँ॥
आदि और मैं मध्य नियन्ता। मैं ही सब प्राणिन को अन्ता॥

२१

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥

२२

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥

२३

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥

२४

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥

२५

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥

२६

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥

२७

उच्चैः श्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥

२१

आदित्यन मंह विष्णु मैं, ज्योतित मंह रवि रूप।
मरुतन मंह हौं वायु मैं, नखतन चन्द्र अनूप॥

२२

वेदन मंह हौं साम मैं, देवन मंह हौं इन्द्र।
इन्द्रिन मंह मैं मन स्वयं, प्राणिन मंह चैतन्य॥

२३

शंकर मैं सब रुद्र मझारी। राक्षस यक्ष मांहि वितधारी॥
आठ वसुन मंह अग्नि कराला। सब शिखरिन मंह मेरु विशाला॥

२४

पार्थ पुरोहित मधि इमि जानी। मैं ही मुख्य बृहस्पति ज्ञानी॥
सेनापति मंह मैं स्कन्दा। सरवर मंह सागर स्वच्छन्दा॥

२५

मैं भृगु मध्य महर्षि अनेका। वाणी मंह ध्रुव अक्षर एका॥
यज्ञन मंह जप यज्ञ प्रधाना। जड़ पदार्थ मंह मैं हिमवाना॥

२६

सब वृक्षन मंह पीपल छेका। देव ऋषिन मंह नारद एका॥
गन्धर्वन मंह चितरथ नामा। कपिल मुनी मैं सिद्धन ग्रामा॥

२७

अश्वन समुझ मोहिं उच्चश्रावा। अमिय मथे जेहि उद्भव पावा॥
गजन मांहि ऐरावत आजा। नरन मांहि नर अधिपति राजा॥

२८

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥

२९

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥

३०

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥

३१

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥

३२

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥

३३

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥

३४

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥

३५

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥

२८

सब अस्त्रन मंह वज्र स्वरूपा । कामधेनु गो बीच अनूपा ॥
प्रजा जनक मैं ही कन्दर्पा । सब सर्पन मंह वासुकि सर्पा ॥

२९

नागन मंह मैं नाग 'अनन्ता' । जल देवन मंह वरुण महन्ता ॥
पितरन मध्य अर्यमा धीरा । नियमन कर्ता मंह यम वीरा ॥

३०

दैत्यन मंह प्रहलाद भुवाला । काल गणक मंह मैं ही काला ॥
मैं पशु माँहि सिंह वन राजा । पक्षिन माँहि गरुड़ महराजा ॥

३१

पावन कारिन पवन मैं, शस्त्रधारि मंह राम ।
जलचर जीवन मकर मैं, नदियन गंग सुनाम ॥

३२

हे अर्जुन मैं सृष्टि को, आदि मध्य अवसान ।
विद्यन मँह अध्यात्म मैं, वादन वाद प्रधान ॥

३३

मैं अक्षर मंह श्रेष्ठ अकारा । सकल समासन द्वन्द प्रकारा ॥
मैं ही अर्जुन अक्षय काला । जग धाता जग-रूप विशाला ॥

३४

मैं ही मृत्यु सबन को हारी । सृष्टि भविष्य समुद्भव कारी ॥
नारिन मँह कीरति, श्री, बानी । सुधि, मेधा, धृति, क्षमा सुहानी ॥

३५

सामन बृहत्साम मैं गीता । छन्दन गायत्री सुपुनीता ॥
मासन मंह कार्तिक श्री मन्ता । ऋतुन माँहि ऋतुराज बसन्ता ॥

३६

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥

३७

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥

३८

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥

३९

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥

४०

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥

४१

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥

४२

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

३६

छलियन मंह छल द्यूत प्रधाना। तेजस्विन मंह तेज महाना ॥
मैं ही जय, मैं ही ब्यवसाया। सात्विक मंह मैं सत्व निकाया ॥

३७

मैं वसुदेव वृष्णि कुल धीरा। पाण्डव मध्य धनञ्जय वीरा ॥
मुनिन माँहि मैं व्यास बखाना। कविन माहिं उशना विद्वाना ॥

३८

दमन माँहि मैं दंड विधाना। विजयिन मंह मैं नीति प्रधाना ॥
गूढ़न मंह मैं मौन महाना। ज्ञानिन मंह मैं ही हौं ज्ञाना ॥

३९

पार्थ प्राणि मंह बीज स्वरूपा। जो कुछ अहहि सोइ मम रूपा ॥
मोरे बिनु अस्तित्व न लहहीं। चर अरु अचर जीव जड़ जगहीं ॥

४०

हे अर्जुन इनको नहिं अन्ता। मोरी दिव्य विभूति अनन्ता ॥
तेहिते इन विभूति विस्तारा। तोहि कहेहुँ संक्षेप अधारा ॥

४१

जे विभूति मय सत्व इंह, उर्जित अरु श्री मन्त।
वे सब उपजे समुझ मम, ज्ञान तेज के अंश ॥

४२

बहु विभूति मम जानि के, अर्जुन लाभ न तोर।
एक अंश सों धारि जग, स्थित हौं चहुँ ओर ॥

श्रीमद्भगवद्गीता पद्यानुवाद का विभूति योग नामक
दशम अध्याय समाप्त हुआ ॥ १० ॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

एकादशोऽध्याय

अर्जुन उवाच—

१

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥

२

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥

३

एतमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥

४

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥

श्रीभगवानुवाच—

५

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥

६

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥

ॐ श्रीकृष्णाय नमः

एकादश अध्याय

अर्जुन ने कहा—

१

मोहिं अनुग्रह करि परम, गूढ़ नाम अध्यात्म।
जिमि बरनेहु तिन बचन तें, छूट्यो मोह महात्म्य ॥

२

प्राणि मात्र उत्पत्ति लय, सुनेहुँ तोहि विस्तार।
कमल नयन पुनि पुनि, सुनी महिमा अपरम्पार ॥

३

जिमि बरनेहु तुम आतम स्वरूपा। परमेश्वर तुम तैसेइ रूपा ॥
ईश्वरीय प्रभु रूप तुम्हारा। पुरुषोत्तम मैं चहहुँ निहारा ॥

४

मानहुँ यदि समरथ मोहि साईं। सो वह रूप देखिबे नाईं ॥
तौ योगेश्वर हे सुखरासी। रूप दिखाउ अपन अविनासी ॥

श्रीभगवान् ने कहा—

५

लखहु पार्थ मोरे तुम रूपा। शत शत और सहस्र स्वरूपा ॥
नाना विधि अतिदिव्य प्रकारा। नाना वर्ण अनेक अकारा ॥

६

देखहु वसु आदित्य सकारा। रुद्र मरुत अश्विनी कुमारा ॥
अनदेखे अबलौं बहुतेरे। लखहु पार्थ आश्चर्य घनेरे ॥

७

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥

८

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥

संजय उवाच—

९

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥

१०

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥

११

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥

१२

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥

१३

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥

७

हे अर्जुन मम देह मझारे। स्थित देखु चराचर सारे॥
एकहि थल सब संसृति लखहू। अरु कछु अन्य लखहु जो चहहू॥

८

किन्तु मोहि तुम पार्थ सुबाहू। निज नयनन नहिं देखि सकाहू॥
दिव्य चक्षु तोहि देहुँ अधारा। लखहु योग ऐश्वर्य हमारा॥

श्रीसंजय ने कहा—

९

राजन! तब कहि वचन प्रमाना। हरि योगिन सिरमौर महाना॥
दिखलायहु अर्जुन कंह रूपा। ऐश्वर्य युक्त निज परम स्वरूपा॥

१०

मुख अनेक अरु नयन अनेका। अद्भुत दरस एक सों एका॥
पुनि आभूषण दिव्य अनेका। आयुध दिव्य एक सों एका॥

११

दिव्य माल अरु अम्बर धारी। दिव्य गन्ध अनुलेप सुखारी॥
अचरज सब कंह देव महन्ता। व्यापक विश्व अनन्त अनन्ता॥

१२

शत सहस्र रवि प्रगटि नभ, इक संग करहिं प्रकास।
तेहि महात्म के तेज को, सम्भव नहिं आभास॥

१३

तंह एकहि थल सबु जगत, बहु विभेद मंह लीन।
देव देव की देह मंह, पांडव दरसन कीन॥

१४

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥

अर्जुन उवाच—

१५

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥

१६

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥

१७

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥

१८

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥

१९

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥

२०

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥

१४

तव अचरज मंह प्राण बिलोई। रोमांचित तनु अर्जुन होई॥
शिर झुकाय करि देव प्रणामा। हाथ जोरि बोल्यो अविरामा॥

अर्जुन ने पूछा—

१५

लखहुँ देव देवन तव देहा। भिन्न भिन्न चर अचर समूहा॥
कमलासीन ब्रह्म, ईशाना। ऋषि सब, उरग दिव्यतम नाना॥

१६

उदर नयन मुख बाहु अनेका। रूप अनन्त सबहिं दिशि देखा॥
लखहुँ न आदि न मध्य न छोरा। विश्वरूप विश्वेश्वर तोरा॥

१७

चक्र गदा कर माथ किरीटा। पूर्ण लखहुँ तोहि दुर्गम-दीठा॥
सब दिशि दीप्त तेज अम्बारा। दीप्त अनल रवि ज्योति अपारा॥

१८

परम अक्षर तुम जानन जोगा। तुम जग परम निधान संजोगा॥
तुम अक्षीण धरम शाश्वत धन। मोरे मत तुम पुरुष सनातन॥

१९

नेत्र सूर्य शशि बाहु अनन्ता। अनन्त वीर्य मधि आदि न अन्ता॥
लखहुँ प्रदीप्त अग्नि मुख तोरा। निज तेजहिं तपवत जग घोरा॥

२०

अन्तर मधि पृथ्वी आकासा। अरु सब दिशि तव व्याप्त विलासा॥
अद्भुत उग्र रूप तुब देखी। तिहूँ लोक भय भीत विसेषी॥

२१

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥

२२

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥

२३

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥

२४

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥

२५

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥

२६

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥

२७

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥

२१

तोहि मंह देव समूह प्रविसहीं। भय वश कर धरि स्तुति करहीं ॥
सिद्ध, महर्षि स्वस्ति उच्चरहीं। बहु मंत्रन तव स्तुति करहीं ॥

२२

रुद्र अदित वसु साध्य सुसेवा। मरुत पितर अश्वनि विश्व देवा ॥
असुर यक्ष गन्धर्व सिधिसन्ता। लखहिं तोहि सब विस्मयवन्ता ॥

२३

महाबाहु तव रूप बड़, बहु मुख पद जँघ नैन।
विकट दंष्ट्र बहु उदर लखि, मैं अरु जन बिनु चैन ॥

२४

दीप्त वर्ण बहु नभ छुवत, मुख बड़ दमकत नैन।
लखि तोहि आत्मा सों व्यथित, धीर न पावहुँ चैन ॥

२५

देखि भयंकर दंष्ट्र कराला। काल अगनि सम मुख विकराला ॥
दिशा भ्रमित मैं शान्ति विछिन्ना। होहु जगत पति देव प्रसन्ना ॥

२६

सब धृतराष्ट्र पुत्र इंह जेते। सबहिं अवनि-पालक संग तेते ॥
द्रोण भीष्म अरु कर्ण सुजाना। मोरेहू योधा परधाना ॥

२७

दाढ़न बीच महा भय कारी। तव मुख प्रविसहिं वेग सँभारी ॥
तिन मंह कुछ के मस्तक टूका। उरझि रहे तव दाढ़न रूखा ॥

२८

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥

२९

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥

३०

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥

३१

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥

श्रीभगवानुवाच —

३२

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥

३३

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥

३४

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥

२८

जैसे नदियन बहु जल धाई । द्रवहि समुद्र ओर गति पाई ।।
तैसेहि मनुज लोक यह वीरा । ज्वलित मुखन तव प्रविश अधीरा ।।

२९

जिमि पतंग गहि वेग कराला । निज विनास हित प्रविसहि ज्वाला ।।
तैसेहि नास हेतु जन सबहीं । महावेग तोरे मुख परहीं ।।

३०

सब लोगन सब दिशि सों खींची । लेहु सवाद ज्वलित मुख भींची ।।
विष्णु उग्र यह रूप तुम्हारा । तपवत तेज सकल संसारा ।।

३१

उग्र रूप तुम को कहु मोहीं । देव कृपा करु प्रणवहु तोहीं ।।
जग कारण तोहि जानन चहहूँ । यह प्रवृत्ति तव समुझि न सकहूँ ।।

श्रीभगवान ने कहा—

३२

मैं हौं काल लोक क्षय कर्ता । इहाँ लोक क्षय हेतु प्रवर्ता ।।
तुम बिन ही जीवित नहिं रहिहैं । दुहुँ सेनन जो योधा लरिहैं ।।

३३

तेहिते उठहु लाभ यश लहहू । शत्रुन जीति राज्य-श्री गहहू ।।
इन सब कंह मैं प्रथमहिं मारा । अर्जुन होहु निमित्त अधारा ।।

३४

द्रोण जयद्रथ भीष्म अरु, कर्ण अन्य युध वीर ।
मोर हने हनु दुःख तजि, जीतु युद्ध धरि धीर ।।

संजय उवाच—

३५

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥

अर्जुन उवाच—

३६

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥

३७

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥

३८

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥

३९

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥

४०

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥

४१

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥

संजय ने कहा—

३५

केशव के सुनि यह वचन, पार्थ कँपत कर जोर।
करत नमन कृष्णहिं कह्यो, गदगद नमत विभोर॥

अर्जुन ने कहा—

३६

सुनि तव कीर्ति कृष्ण अति गोई। प्रेम करहि जग हर्षित होई॥
राक्षस भय वश दिशि दिशि भजहीं। सिधि-समुदाय नमन बहु करहीं॥

३७

कृष्ण सिद्ध तोहि कस नहिं नमहीं। ब्रह्मा-श्रेष्ठ आदिकर तुमहीं॥
जग निवास देवेश अनन्ता। तुम अक्षर सत असतहिं अंता॥

३८

आदि देव तुम पुरुष पुराणा। सकल विश्व के परम निधाना॥
ज्ञाता ज्ञेय सुधाम महन्ता। विश्व व्याप्त तुम रूप अनन्ता॥

३९

तुम यम वरुण अग्नि शशि वायू। ब्रह्मा अरु ब्रह्मापितु दोऊ॥
नमः सहस्त्र नमः उच्चारा। पुनि पुनि नमन करहु स्वीकारा॥

४०

सम्मुख नमन नमन तोहि पाछे। नमन तोहि सब दिशि दिशि व्यापे॥
विक्रम अमित सामर्थ्य अनन्ता। तुम सरवस जग अखिल व्यपन्ता॥

४१

कृष्ण सखा हे यादव कहेऊँ। मानि सखा बहु अनुचित करेहूँ॥
तव महिमा बिनु जाने ऐहा। वश प्रमाद अथवा भरि नेहा॥

४२

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥

४३

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥

४४

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥

४५

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥

४६

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥

श्रीभगवानुवाच—

४७

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥

४८

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥

४२

भरि विनोद अविनय व्यापारा। विहरत सोवत बैठि अहारा ॥
सब सम्मुख अथवा एकाकी। मागहुँ क्षमा कृष्ण मैं ताकी ॥

४३

तुम प्रभु पिता चराचर लोका। गुरु गरीय तुम पूजन जोगा ॥
तुम सों अधिक कवन हुइ सकही। अनुपम रूप लोक तिहुँ धरही ॥

४४

स्तुत्य नमत साष्टांग तोहि, करहुँ प्रसन्न मैं ईश।
पिता पती सखि सम क्षमहु, सुत पत्निहिं अरु मीत ॥

४५

हर्षित लखि अनदीख मैं, व्याकुल मन भयभीत।
सोइ दिखाउ मोहिं रूप प्रभु, द्रवहु देव जगदीश ॥

४६

चक्र गदा कर माथ किरीटा। तैसेइ चहहुँ लखन तोहि इष्टा ॥
सोइ गहु रूप चतुर्भुज धारी। सहस-बाहु विश्वरूप मुरारी ॥

श्रीभगवान् ने कहा—

४७

अर्जुन तोहि निज योग प्रभावा। हुइ प्रसन्न निज रूप दिखावा ॥
आद्य अनन्त जग व्याप्त सुतेजा। तुम बिनु अन्य प्रथम नहिं देखा ॥

४८

नहिं वेदन यज्ञन तप दाना। नाहिं क्रियन अध्ययन महाना ॥
अर्जुन परम रूप जग माँही। तुम बिनु अन्य न देखि सकाँही ॥

४९

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥

संजय उवाच—

५०

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥

अर्जुन उवाच—

५१

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥

श्रीभगवानुवाच—

५२

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥

५३

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥

५४

भक्त्यात्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

५५

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

४९

व्यथित न होहु न होहु विमूढ़ा । लखि यह रूप मोर अति गूढ़ा ॥
पुनि तुम निर्भय भरि मन प्रीती । देखहु रूप मोर सोइ रीती ॥

संजय ने कहा—

५०

अस कहि वासुदेव अर्जुन हीं । रूप पुरान दिखाव तुरत ही ॥
तेहि भीतहिं आश्वासन दीन्हा । सौम्य रूप पुनि आपन कीन्हा ॥

अर्जुन ने कहा—

५१

देखि तोर यह मानुष रूपा । सौम्य जनार्दन तोर स्वरूपा ॥
पुनि सचेत भयेहुँ लहि ज्ञाना । चित प्रसन्न पायेहुँ निज भाना ॥

श्रीभगवान् ने कहा—

५२

लखेहु रूप तुम जो इमि मोरा । सो दुर्लभ अति सो अति घोरा ॥
याहि देव नित देखन चहहीं । दरस चाह अन्तर मंह धरहीं ॥

५३

नहिं वेदन नहिं तपन महाना । नहिं यज्ञन नहिं कीन्हें दाना ॥
लखेहु यथा तुम मोकहं ताता । देखि सकहि कोउ अन्य न ज्ञाता ॥

५४

अर्जुन भक्ति अनन्य सों, यहि विधि देहुँ जनाय ।
तत्व ज्ञान दरसन परस, सुलभ प्रवेश लखाय ॥

५५

मत्पर, ममहित कर्म-रत, पांडव तजि आसक्त ।
सब प्राणिन निर्वैर सो, मोहि पावै मम भक्त ॥

श्रीमद्भगवद्गीता पद्यानुवाद का विश्वरूपदर्शन योग नामक
एकादश अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ द्वादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

१

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥

श्रीभगवानुवाच—

२

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥

३

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥

४

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥

५

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥

६

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥

ॐ श्रीकृष्णाय नमः

द्वादश अध्याय

अर्जुन ने कहा—

१

सतत एक हुइ परम सों, नित जे ध्यावहिं तोय।
अरु कछु निरगुन ब्रह्म जे, श्रेष्ठ कवन तिन होय॥

श्रीभगवान् ने कहा—

२

करि स्थिर मन मोहिं निज, नित मोहिं सन तेहि जोर।
श्रद्धा-युत मोहिं जे भजहिं, श्रेष्ठ भगत सो मोर॥

३

व्याप्त सकल जग, अरु अव्यक्ता, निर्विकार, निश्चल, अरु नित्या॥
अनिरदेश्य, अचिन्त्य स्वरूपा। ब्रह्म भजहिं ध्रुव अक्षर रूपा॥

४

जे इन्द्रिन वश करि विधि नाना। अरु सबहीं धरि बुद्धि समाना॥
प्राणि मात्र सेवा रत होहीं। सुनहु पार्थ सो पावहिं मोहीं॥

५

जिनके मनहिं ब्रह्म लव लागी। तिन कंह क्लेश अधिक बड़ भागी॥
अव्यक्त ध्यान जब धारहिं ताता। तन अभिमान करहिं उत्पाता॥

६

सब कर्मन अरपित करि जोई। ध्यावहिं श्रेष्ठ जानि नित मोहीं॥
भगति अनन्य भरे मन माहीं। ध्यान धरहिं केवल मोहि पाहीं॥

१०

७

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥

८

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥

९

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥

१०

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमोभव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥

११

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥

१२

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥

१३

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥

७

निमिष मात्र मँह तिन्हहिं उधारौं । भव सागर सों पार उतारौं ॥
जिनके मन मम पद अनुरागी । देर करहुँ नहिं उन हित लागी ॥

८

मन सुस्थिर मो मँह निज करहू । निज बुधि केवल मो मँह धरहू ॥
अस करि जियत मरत दुहुँ माहीं । बसिहहु मम उर संशय नाहीं ॥

९

यदि न सकहु चित मोहि सन जोरी । यदि मति स्थिर रहहि न तोरी ॥
अभ्यास योग सों करि अभ्यासा । मोहिं पावहु चित धरि अभिलासा ॥

१०

अभ्यासहु यदि समरथ नाहीं । कर्म करहु सब मोरे नाईं ।
कर्म करत मोरे हित लागी । जइहौ पाय सिद्धि बड़-भागी ॥

११

यदि समरथ नहिं तुम इतनेहू । तौ मम योग शरण गहि लेहू ।
निज बश करि मन, इन्द्रिय सारी । सब करमन फल देहु बिसारी ॥

१२

अभ्यासहिं श्रेष्ठ समुझिये ज्ञाना । ज्ञानहिं श्रेष्ठ जानिये ध्याना ॥
ध्यानहिं श्रेष्ठ कर्म फल त्यागू । त्यागहिं शान्ति अनन्त अबाधू ॥

१३

जे अति करुण, हृदय नहिं द्वेषा । जे संसृति के मित्र विशेषा ॥
अहंकार जित मोह न जाना । क्षमावान सुख दुखहिं समाना ॥

१४

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

१५

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥

१६

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

१७

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥

१८

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥

१९

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥

२०

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

१४

नित संतुष्ट सतत नित योगी। इन्द्रिय जित दृढ़ निश्चय भोगी ॥
मोहिं अरपै निज मन बुधि जोई। सो मम भगत मोर प्रिय होई ॥

१५

जेहिते जगत द्वेष नहिं करही। अरु जो जग सन द्वेष न धरही ॥
हर्ष, क्रोध, भय, वेग विमुक्ता। सो मम प्रिय सोई मम भक्ता ॥

१६

कर्म दक्ष, शुचि, विगत-अपेक्षा। उदासीन, सब व्यथन विमुक्ता।
सब आरम्भन त्यागहि जोई। सो मम भगत मोहिं प्रिय होई ॥

१७

जिनके हृदय हर्ष नहिं द्वेषा। शोक परहिं नहिं करहिं न ऐषा ॥
शुभ अरु अशुभ भेद बिसराये। भक्ति-मान सोइ मो कंह भाये ॥

१८

शत्रु मित्र सब एक समाना। जिन कंह एक मान अपमाना ॥
सुख दुख जिनहिं एक सम लागे। जिनके चित्त आसक्ति न जागे ॥

१९

स्तुति निन्दा तुल्य जो, मौनी किञ्चित संतुष्ट।
निरूगेही स्थिर मती, सो भक्त पुरुष मम इष्ट ॥

२०

सेवहिं अमृत धर्म जे, जस मैं कहेहुँ अछोर।
श्रद्धा-युत मो मंह लगे, भक्त अधिक प्रिय मोर ॥

श्रीमद्भगवद्गीता पद्यानुवाद का भक्ति योग नामक
द्वादश अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

१

प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ॥

श्रीभगवानुवाच—

२

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥

३

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥

४

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥

५

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥

६

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥

श्रीकृष्णाय नमः

त्रयोदश अध्याय

अर्जुन ने कहा—

१

प्रकृति पुरुष अरु क्षेत्र को, कहु क्षेत्रज्ञ विधान ।
केशव अब जानन चहहुँ, ज्ञेय कौन, को ज्ञान ॥

श्रीभगवान् ने कहा—

२

यह शरीर कौन्तेय जग, क्षेत्र नाम इमि पाव ।
जोई जानहि याहि कंह, सोइ क्षेत्रज्ञ कहाव ॥

३

अर्जुन हौं क्षेत्रज्ञ मैं, सब क्षेत्रन इमि जान ।
ज्ञान क्षेत्र क्षेत्रज्ञ को, सो मत मोरे ज्ञान ॥

४

ककस क्षेत्र कस युक्त विकारा । सकल विकारन का क्रम धारा ॥
कस क्षेत्रज्ञ रूप को गुनहू । कस प्रभाव संक्षेपहि सुनहू ॥

५

बहु विधि बहुधा ऋषि जेहि गावा । बहु छन्दन जेहि गाय सुनावा ॥
अरु जेहि ब्रह्मसूत्र प्रति पांती । गावत निश्चित तर्क सँघाती ॥

६

पंच महा भूतन मय काया । अहंकार बुधि अरु पुनि माया ॥
दस इन्द्रिय मन एक सोहाई । पंच विषय हू देहिं दिखाई ॥

७

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥

८

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥

९

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥

१०

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥

११

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥

१२

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥

१३

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥

७

सुख इच्छा दुख द्वेष-विरक्ती। धृति संघात चेतना-शक्ती ॥
यह सब क्षेत्र जानु सविकारा। कहेहुँ तोहि मैं तजि विस्तारा ॥

८

अदम्भ अहिंसक रहहि अमानी। क्षमाशील शुचि सरल सुज्ञानी ॥
गुरु पूजक सुस्थिरता धारी। आत्म विनिग्रह युत ब्रह्मचारी ॥

९

इन्द्रिन विषय गहे वैरागा। निरंहकार वृत्ति अनुरागा ॥
जन्म जरा मृतु व्याधि अधीना। दोष दरस दुख चिन्तन लीना ॥

१०

कर्म निरत आसक्ति विहाई। सुत, दारा, गृह अरु समुदाई ॥
स्थिर चित नित एक स्वरूपा। इष्ट अनिष्ट घटत इक रूपा ॥

११

मोहि अनन्य योग सों भजहीं। अविभाजित उर भक्ती धरहीं ॥
एकाकी पावन थल रहहीं। हत-संस्कार संग नहिं चहहीं ॥

१२

नित अध्यात्म ज्ञान तल्लीना। तत्व ज्ञान फल अनुभव कीना ॥
सोइ कहावत केवल ज्ञाना। यहि विपरीत सबहि अज्ञाना ॥

१३

जानन योग कहहुँ जेहि, जानि लहिय अमरत्व।
श्रेष्ठ ब्रह्म को आदि नहिं, नहिं सत् असत् महत्व ॥

१४

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।।

१५

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ।।

१६

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ।।

१७

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ।।

१८

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।।

१९

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ।।

२०

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्चगुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ।।

१४

सब दिशि तेहिके कर चरण, सब दिशि मुख शिर नैन ॥
सब दिशि स्थित व्याप्त जग, सब दिशि सुनहि सुबैन ॥

१५

सब इन्द्रिन गुण देत अभासा। बिनु इन्द्रिन सो ब्रह्म प्रकासा ॥
अनासक्त जग धारण कर्ता। निर्गुण होत गुणान को धर्ता ॥

१६

प्राणिन बाहर भीतर रहही। सोइ चर अचर प्राणि उर बसही ॥
सूक्ष्म तत्व सो जाइ न जाना। ज्ञानिहिं निकट दूरि बिनु ज्ञाना ॥

१७

अविभाजित सो प्राणिन माहीं। पैं विभक्त सम रहत सदाहीं ॥
ज्ञेय सोइ जग प्राणिन भर्ता। प्रभव प्रलय दोनहुँ कर कर्ता ॥

१८

ज्योतित मंह सो ज्योति प्रसारा। तम सों परे ज्योति विस्तारा ॥
ज्ञान रूप सोइ ज्ञेय प्रकासा। ज्ञानगम्य सब हृदयन वासा ॥

१९

यहि विधि क्षेत्र कहेऊँ पुनि ज्ञाना। पुनि संक्षेपहि ज्ञेय विधाना ॥
भगत मोर इन तीनिहुँ जानी। पावहि मोर परम पद ज्ञानी ॥

२०

प्रकृति पार्थ अरु पुरुष कि सोऊ। नित्य अनादि समुझिये दोऊ ॥
सब विकार अरु गुण जग जेते। जानिय प्रकृति उपज सब तेते ॥

२१

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥

२२

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥

२३

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥

२४

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥

२५

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥

२६

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥

२७

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥

२८

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥

२१

कारज करण कृतित्वहिं लाई। कारण केवल प्रकृति सदाई॥
सुख दुख भोग हेतु जग माहीं। कारण केवल पुरुष कहाहीं॥

२२

पुरुष प्रकृति मंह स्थित होई। भोगहि तीन प्रकृति गुण सोई॥
सत् अरु असत् योनि उत्पत्ती। कारण तीनि गुणन आसक्ती॥

२३

साक्षी अरु भर्ता अनुमन्ता। भोक्ता फल बड़ ईश नियंता॥
कहत सकल जग जेहि परमात्मा। सो पर पुरुष बसहि बनि आत्मा॥

२४

जो इमि जानहिं पुरुष कंह, अरु प्रकृतिहँ गुण तीन।
बरतत जग केउ रीति सों, जनमत नहिं पुनि दीन॥

२५

ध्यान धारि आपुहिं लखहिं, आपुहिं आपु मझारि।
सांख्य योग सों लखहिं कुछ, कर्म योग कुछ धारि॥

२६

किन्तु अन्य जिन परम न जाना। पूजहिं अन्य बचन धरि काना॥
ऐसेहु श्रवण परायण जोगी। तरहिं जगत नित मृत्यु नियोगी॥

२७

जंह लौं किंचित सृष्टि अधारा। चर अरु अचर जगत व्यापारा॥
क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ संयोगा। समुझिय पार्थ हृदय यहु योगा॥

२८

सब प्राणिन परमेश्वर रहही। सब मंह रूप समान विहरही॥
नासवान् मँह जो अविनासी। लखहि सो लखहि दृष्टि तेहि साँची॥

२९

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो यातिपरां गतिम् ॥

३०

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥

३१

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥

३२

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥

३३

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥

३४

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥

३५

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगोनाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

२९

सब कहुँ देखत एक समाना। अरु स्थित सब मँह भगवाना॥
स्वयं न निज हिंसा करि सकहीं। तेहिते सहज परम गति लहहीं॥

३०

सबही कर्म विभिन्न प्रकारा। कीन्हे जात प्रकृति आधारा॥
आपु अकर्ता पन लख जोई। अर्जुन एक लखत नर सोई॥

३१

प्रथक भाव जब प्राणि जगहीं। एक ब्रह्म मँह स्थित लखहीं॥
अरु पुनि उनकर लखहिं प्रसारा। तेहि जानिय जनु ब्रह्म सँवारा॥

३२

निर्गुण ब्रह्म अनादि स्वरूपा। परमात्मा नित अव्यय रूपा॥
अर्जुन रहत बसत तन माहीं। रहहि न लिप्त करहि कुछ नाहीं॥

३३

निज सूक्षमत्व लीन आकासा। लिप्त न रहहि व्याप्त सब पासा॥
तैसइ पूरन देह समोई। आत्मा लिप्त कबहुँ नहिं होई॥

३४

जैसे सिगरी सृष्टि मँह, रवि इक भरहि प्रकास।
तैसेइ सिगरे क्षेत्र तनु, क्षेत्री कर उद्भास॥

३५

अन्तर क्षेत्री क्षेत्र को, लखहिं ज्ञान के नेत्र।
भूत प्रकृति अरु मोक्ष पुनि, वे ही नर अति श्रेष्ठ॥

श्रीमद्भगवद्गीता पद्यानुवाद का क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग योग नामक
त्रयोदश अध्याय समाप्त हुआ॥ १३॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

१

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥

२

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥

३

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥

४

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥

५

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥

६

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥

श्रीकृष्णाय नमः

चतुर्दश अध्याय

श्रीभगवान् ने कहा—

१

पुनः कहहुँ सब ज्ञान मंह, उत्तमतम तोहि ज्ञान ।
जानि जाहि तन तजत मुनि, पाये सिद्धि महान ।।

२

आश्रय गहि यहि ज्ञान को, मम समरथता पाइ ।
जनमहिं नहिं सृष्टिहु भये, दुखित न प्रलय समाइ ।।

३

महत् ब्रह्म मम योनि है, तेहि रोपहुँ मैं बीज ।
तेहिते जनमहिं प्राणि सब, अर्जुन यहि जग बीच ।।

४

सब योनिन कौन्तेय सदाई । बाह्य मूर्ति जे जनमहिं आई ।।
तिन हित योनि प्रकृति विस्तारा । मैं पितु बीजन रोपन हारा ।।

५

'तामस' 'रजस' 'सत्व' गुण जेते । उपजे सबहिं प्रकृति सों तेते ।।
महाबाहु ! बाँधहि छिन मांही । अव्यय जीव याहि तन माहीं ।।

६

इन मंह 'सत्व' विमल गुणधारी । सुख अरु स्वास्थ्य प्रकाश प्रसारी ।।
सुख पुनि ज्ञान मोह उपजाई । बाँधहि जीव पार्थ भरमाई ।।

७

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥

८

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥

९

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥

१०

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥

११

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥

१२

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥

१३

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥

७

जानिय रज गुण राग बिलासा। उपजावहि बहु मोह पिपासा ॥
बहु कर्मन उपजावहि मोहा। पारथ बाँधहि पुनि पुनि जीहा ॥

८

तम गुण जातु उपज अज्ञाना। सब देहिन हित मोह महाना ॥
आलस निद्रा और प्रमादा। तीनिहुँ सों अर्जुन सो बाँधा ॥

९

बाधहिं सत्व सुखन सों प्रीती। अर्जुन रज गुण कर्म प्रतीती ॥
किन्तु तमोगुण झांपत ज्ञाना। भरत प्रमादहिं मोह महाना ॥

१०

'रज गुण' 'तम गुण' दुहुन दबाई। बाढ़हि 'सत गुण' अर्जुन राई ॥
बढ़हि 'रजस' 'तम' 'सत्व' विलोई। तैसेहि 'तम' 'रज' 'सत्व' डुबोई ॥

११

जब यहि देह दुआरन पासा। उपजहि ज्ञान और परकासा ॥
तब जानिय सम्मुझिय उत्थाना। सत्व गुणन उत्कर्ष महाना ॥

१२

लोभ प्रवृत्ति लालसा धारा। कर्मारम्भ अशांति अपारा ॥
सबके सब इंह जनमहिं आई। रजगुण होत पार्थ अधिकाई ॥

१३

प्रवृत्ति अभाव विवेक-विनासा। अति प्रमाद अरु मोह विलासा ॥
तम गुण बाढ़त उपजहिं नाना। सब ऐते पारथ मतिमाना ॥

१४

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥

१५

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥

१६

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥

१७

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥

१८

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधोगच्छन्ति तामसाः ॥

१९

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥

२०

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥

१४

किन्तु सत्व गुण वृद्धि गहि, देही तजहि जु देह ।
पावहि उतम शुद्ध कुल, जनमहि योगिन गेह ॥

१५

जनमहि कर्मासक्त कुल, रजगुण तजहि जु देह ।
तम गुण तजि तनु जनम पुनि, मूढ़ योनि के गेह ॥

१६

सुकृत कर्म को फल इमि भाखा । सात्विक निर्मल फल अनचाखा ॥
रज गुण के फल दुख बहु नाना । तम गुण फल अज्ञान बखाना ॥

१७

सत गुण उपजहि आपन ज्ञाना । रज गुण केवल लोभ महाना ॥
तम गुण उपजहिं अवगुण नाना । मोह प्रमाद अमित अज्ञाना ॥

१८

सत-गुणवान ऊँच पद लहहीं । रज-गुण धारि मध्य मंह रहहीं ॥
अति जघन्य गुण तामस वरहीं । सो नर अति खोटी गति गहहीं ॥

१९

कर्ता तीनि गुणन बिनु आना । देखहि नहिं जब दृष्टि प्रधाना ॥
अरु पुनि गुणन परे कंह जाना । सो मम रूप पाव मतिमाना ॥

२०

देही देह समुद्भव कारी । इन तीनिहुँ गुण लाँघि बिसारी ॥
जनम जरा मृत्युहिं दुख लाँघी । अमृत-मोक्ष पाव बड़ भागी ॥

अर्जुन उवाच—

२१

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥

श्रीभगवानुवाच—

२२

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥

२३

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥

२४

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥

२५

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥

२६

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

२७

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

अर्जुन ने पूछा—

२१

केहि लक्षण प्रभु चाहिय जाना । तेहि जो त्रिगुणातीत बखाना ॥
केहि आचरण साधि सो रहही । तीनिहुँ गुणन लाँघि कस सकही ॥

श्रीभगवान् ने कहा—

२२

प्रकाश प्रवृत्ति मोह गति तीना । पाण्डव उच्च मध्य अति हीना ॥
द्वेष न स्थिति परि प्रतिकूला । अरु न चहहिं कछु गहि अनुकूला ॥

२३

उदासीन सम जे जन रहहीं । अरु गुण जेहि विचलित नहिं करहीं ॥
गुण बरतहिं निज विषय स्वभावा । समुझि रहहिं स्थिर निज भावा ॥

२४

सुख दुख सम आपुहिं मंह रहही । माटी स्वर्ण समान समुझही ॥
प्रिय अप्रिय संस्तुति अपमाना । धीर-पुरुष कंह एक समाना ॥

२५

जेहि कंह एक मान अपमाना । जाहि मित्र अरि पक्ष समाना ॥
सब आरम्भ पूर्णतः त्यागी । गुणातीत तेहि कहत विरागी ॥

२६

सेवहि भाव अनन्य जो, मोहिं भगति के योग ।
लाँघि तीनि गुण बनहि सो, ब्रह्म समुझिबे जोग ॥

२७

ब्रह्महिं हौं आधार मैं, अक्षय मोक्ष स्वरूप ।
शाश्वत धर्म स्वरूप अरु, सुख ऐकान्तिक रूप ॥

श्रीमद्भगवद्गीता पद्यानुवाद का गुण-त्रय विभाग योग नामक
चतुर्दश अध्याय समाप्त हुआ ॥ १४॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच —

१

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छंदांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ।।

२

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ।।

३

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ।।

४

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ।।

५

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ।।

६

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।।

श्रीकृष्णाय नमः

पञ्चदश अध्याय

श्रीभगवान ने कहा—

१

ऊपर जड़, शाखा तरे, अव्यय अश्वत्थ कहाय ।
जो जानहि सो वेद विद, पल्लव वेद ऋचाय ॥

२

ऊरध अध शाखा फरी, गुणन पुष्ट, अंकुर विषय ।
नीचे नित नव मूल बहु, जगत कर्म बन्धन विलय ॥

३

लखब न सम्भव जग यहु रूपा । अन्त न आदि न मध्य स्वरूपा ॥
दृढ़ अश्वत्थ मूल तल भेदी । कठिन असंग शस्त्र सौं छेदी ॥

४

मैं सोइ आदि पुरुष की शरणा । जेहि सन प्रवृति अनादि प्रसरणा ॥
मन धरि इमि खोजहि सो द्वारा । जेहि गहि पुनि न परहि संसारा ॥

५

असंग दोष नित मोह न माना । अध्यात्म लीन पुनि अपगत कामा ॥
सुख दुख द्वन्द विमुक्त अमूढ़ा । अविनाशी पद पावहि गूढ़ा ॥

६

नहिं तेहि सूर्य प्रकाशित करही । नहिं शशि अगनि ज्योति तेहि भरही ॥
पहुँचि जहाँ पुनि पलट न कोई । परम धाम मम उत्तम सोई ॥

७

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥

८

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥

९

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥

१०

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥

११

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥

१२

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥

१३

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥

७

जीव लोक मंह जीव स्वरूपा। मेरोइ अंश सनातन रूपा॥
सोइ मन अरु छह इन्द्रिन काहीं। खींचहि नित जे प्रकृति बसाहीं॥

८

ईश्वर रूप जीव तनु गहही। अरु जब तन तजि जग कंह तजही॥
छह इन्द्रिन मन संग लै चलही। वायु बसाय गंध जिमि बहही॥

९

स्पर्श नयन अरु इन्द्रिय काना। रसना इन्द्रिय इन्द्रिय घ्राणा॥
मन अरु सब कर बनि अधिकारी। सेवत विषयन जीव संभारी॥

१०

बहिर भये तनु, रहत तनु, विषयन भोगत भोग।
लखहिं न त्रिगुणिहिं मूढ़ जन, देखहिं ज्ञानी लोग॥

११

जतन करत योगी लखहिं, यहि स्थिति निज माँहि।
अविवेकी संस्कार हत, जतनहु देखत नाँहि॥

१२

रवि स्थित जो तेज अभासा। सकल जगत कर करहि प्रकासा॥
शशि अरु अग्नि तेज रह जोई। तेज हमार समुझ मन सोई॥

१३

पृथवी प्रविशि सकल मैं प्रानी। धारण करहुँ ओज निज तानी॥
अरु तैसेहि बनि रस-मय चन्दा। पालहुँ सकल वनस्पति वृन्दा॥

१४

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥

१५

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥

१६

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥

१७

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

१८

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

१९

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥

२०

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

१४

बनि जठराग्नि स्वयं मैं रहहूँ। प्राणिन के तन आश्रय गहहूँ॥
प्रान अपान युक्त करि देही। चारिहु अन्न पचावहुँ मैं ही॥

१५

प्रविसेहुँ मैं सबके हृदि अंगना। मोसेइ 'स्मृति', 'ज्ञान', 'बिसरना'॥
वेदन सबहिं वेद्य मैं ताता। वेद रहसि कर्ता अरु ज्ञाता॥

१६

होहिं पुरुष जग दोइ प्रकारा। क्षर अरु अक्षर इनहिं पुकारा॥
क्षर सिगरे प्राणी कहलाये। जीवात्मा अक्षर कहि जाये॥

१७

पुरुषोत्तम दोउन सो न्यारा। 'परमात्मा' इमि जाय पुकारा॥
प्रविसि लोक तिहुँ धारहि जोई। अव्यय रूप 'ईश' सुनु सोई॥

१८

क्षर सों अति अतीत मैं रहहूँ। अक्षर सों अति उत्तम अहहूँ॥
तेहिते वेदन संस्मृति ग्रामा। मैं प्रसिद्ध पुरुषोत्तम नामा॥

१९

मोह रहित हुइ पुरुष जो, पुरुषोत्तम मोहिं जान।
सो सब विधि सर्वज्ञ मोहिं, भजहि पार्थ मतिमान॥

२०

अनघ पार्थ यहि विध कहेऊँ, गूढ़ शास्त्र अत्यन्त।
जानि जाहि कृत कृत्य अरु, हुइहैं नर बुधिमन्त॥

श्रीमद्भगवद्गीता पद्यानुवाद का पुरुषोत्तम योग नामक
पञ्चदश अध्याय समाप्त हुआ॥ १५॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ षोडशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

१

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥

२

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥

३

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥

४

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥

५

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥

६

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥

श्रीकृष्णाय नमः

षोडश अध्याय

श्रीभगवान् ने कहा—

१

निर्भयता चित शुद्धि अरु, निष्ठा ज्ञानहिं योग।
दान यज्ञ दम अध्ययन, तप सारल्य संजोग॥

२

सत्य अहिंसा क्रोध अरु, शान्ति अनिन्दा त्याग।
प्राणिन दया, अलुब्धता, मृदुता, थिरता, लाज॥

३

तेज, क्षमा, धृति, शौच सुभावा। अद्रोही अभिमान अभावा॥
दैवी संपति जे नर धारे। अर्जुन तिन महँ यह गुन सारे॥

४

दंभ दर्प अरु चह अतिमाना। क्रोध कटुक-वाणी अज्ञाना॥
आसुरि सम्पति युक्त पुरुषहीं। अर्जुन छह दुर्गुण संग रहहीं॥

५

दैवी सम्पति मोक्ष अधारा। आसुरि सम्पति जानिय कारा॥
शोक न करहु पार्थ चित लाये। तुम दैवी सम्पति युत जाये॥

६

भूत सृष्टि जग दोइ प्रकारा। इक आसुर इक दैव पुकारा॥
कहेहुँ दैव गुन अति विस्तारा। सुन अब पार्थ असुर गुन सारा॥

७

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥

८

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥

९

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥

१०

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥

११

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥

१२

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥

१३

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥

७

आसुर जन नहिं जान प्रवृत्ती । अरु नहिं जानहिं असुर निवृत्ती ।।
नहिं जानहिं शुचिता आचारा । कहुँ नहिं तिन्ह मँह सत्य अधारा ।।

८

सत्य रहित जग बिनु आधारा । 'ईश्वर हीन' कहहिं जग सारा ।।
जग उत्पति नर नारि संयोगा । अन्य न कछु बस काम सुयोगा ।।

९

आश्रय असत् दीठि गहि छोटी । आत्मा नष्ट बुद्धि अति खोटी ।।
उपजे क्रूर कर्म अपनाये । जग क्षय हेतु जियत जग लाये ।।

१०

दूभर काम सहारा पाई । दम्भ मान मद मोह बसाई ।।
असत भाव अविवेकहिं धारे । अशुचि व्रतन अपवित्र सँवारे ।।

११

चिन्ता चित्त अनन्तन साधे । मृत्यु काल तक राखहिं बाँधे ।।
विषय भोग भोगन मँह लीना । मानहिं तेहि पुरुषारथ कीना ।।

१२

शत शत आशा बद्ध जे, काम परायण कोह ।
विषय भोग हित न्याय तजि, संचहि धन करि द्रोह ।।

१३

पायहुँ यहु मैं आजु सो, पूर्ण मनोरथ होउँ ।
यह तो है, पुनि धन यहू, गहि भविष्य मँह लेहुँ ।।

१४

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥

१५

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥

१६

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥

१७

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥

१८

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥

१९

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥

२०

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥

१४

अरि यह आजु अपन मैं मारा । अन्य अरिहुँ पुनि हनहुँ दुबारा ॥
मैं ईश्वर मैं ही हौं भोगी । मैं बलवान सुखी सिध-योगी ॥

१५

मैं कुलीन सब साधन वाना । अन्य कौन जग मोहिं समाना ॥
करहुँ दान तप मैं आनन्दी । यहि अज्ञान मोह मँह बन्दी ॥

१६

बहु विधि भ्रमित चित्त उर वारे । मोह-पाश आबद्ध विचारे ॥
विषय भोग लिप्सा उर धरहीं । नरक अपावन पुनि पुनि परहीं ॥

१७

अभिमानी, निज गुणन बखाना । धन अरु मान मदांध महाना ॥
नाम मात्र कँह यज्ञन करहीं । दम्भ युक्त हुई विधि नहिं वरहीं ॥

१८

अहंकार बल दर्प संभारे । काम क्रोध कर आश्रय धारे ॥
निज अरु अपर देह रममाना । मोहिं सों द्वेष, गुणिन अपमाना ॥

१९

क्रूर जनन जिन मोहिं सन द्वेषा । अरु जे अधम अपूत विशेषा ॥
तिन कहँ फेकहुँ बारम्बारा । असुर योनि मँह यहि संसारा ॥

२०

असुरि योनि पारथ वे परहीं । जनम जनम आसुरि गति गहहीं ॥
पावहिं नहिं संसर्ग हमारा । पुनि पुनि परहिं अधम गति धारा ॥

२१

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

२२

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥

२३

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

२४

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

तत् सत् ओऽम् ब्रह्म निर्देशा । त्रिविध कहावत पुण्य संदेशा ॥
ब्राह्मण, वेद ताहि अनुसारा । पूर्व समय बहु यज्ञन धारा ॥ [१७.२३]

२१

तीनि तीनि विधि नरक दुआरे। आत्म नाश के हेतु पुकारे॥
काम क्रोध लोभहिं अनुरागा। इन तीनिहुँ कँह चाहिय त्यागा॥

२२

हे अर्जुन इन तीनिहुँ त्यागी। तम गुण द्वार मुक्त बैरागी॥
निज हित समुझि करहि आचरना। पावहि मोक्ष परमगति शरणा॥

२३

शास्त्र विहित विधि तजहि जो, गहहि स्वतन्त्र स्वरूप।
पावहि सिद्धि न सुख सो, नहिं गति परम अनूप॥

२४

निश्चय कार्य अकार्य हित, केवल शास्त्र प्रमान।
विधिवत कर्मन करि सकहु, समुझत शास्त्र विधान॥

श्रीमद्भगवद्गीता पद्यानुवाद का देवासुरसम्पत्ति विभाग योग नामक
षोडश अध्याय समाप्त हुआ॥ १६॥
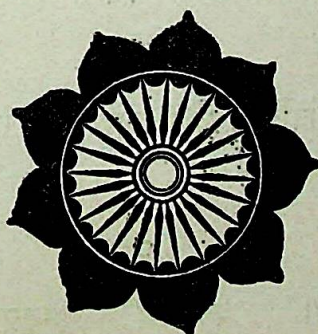
निज सूक्षमत्व लीन आकासा। लिप्त न रहहि व्यास सब पासा॥
तैसइ पूरन देह समोई। आत्मा लिप्त कबँहु नहिं होई॥ [१३.३३]

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

१

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥

श्रीभगवानुवाच—

२

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥

३

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥

४

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥

५

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥

६

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥

श्रीकृष्णाय नमः

सप्तदश अध्याय

अर्जुन ने कहा—

१

शास्त्र-विधिन कंह छाँड़ि जे, भरि श्रद्धा भज तोहि।
तिनकी निष्ठा कृष्ण कहु, सत, रज, तम कस होहि॥

श्रीभगवान् ने कहा—

२

देहिन श्रद्धा तीनि विधि, जनम जात ही होय।
सात्विक राजस तामसी, कहहुँ पार्थ सुनु सोय॥

३

अर्जुन सत्व समान ही, श्रद्धा सबकी होय।
यह श्रद्धामय पुरुष है, जस श्रद्धा तस होय॥

४

सात्विक पुरुष देव गण भजहीं। राक्षस-यक्षहिं राजस नमहीं॥
भूत प्रेत गण पूजहिं अन्या। तामस जन, तामस-गुण-जन्या॥

५

शास्त्रन विहित मार्ग तजि चलही। अति प्रतिकूल कठिन तप करही॥
अहंकार अरु दम्भहिं युक्ता। काम राग अति बल संयुक्ता॥

६

दुर्बल करहिं बसे निज काया। अविवेकी, इन्द्रिय समुदाया॥
अरु पुनि मोहिं बसत तन मांही। समुझ असुर निश्चय युत ताही॥

७

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥

८

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याःस्निग्धाःस्थिरा हृद्या आहाराःसात्त्विकप्रियाः॥

९

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥

१०

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥

११

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥

१२

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥

१३

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥

७

तैसेइ सब कर नित्य अहारा। तीनि विधिन सों होहि पियारा॥
यज्ञ और तप दान समुझहू। तिनके भेद मोहि सन सुनहू॥

८

आयुष-सत्व-स्वास्थ्य आधारा। सुख अरु प्रेम बढ़ावनि हारा॥
रसमय स्निग्ध सुथिर आहारा। पाचक सात्विक नरन पियारा॥

९

कटु अरु अम्ल ऊष्ण पुनि तीखे। लोने जलन उठावत रूखे॥
राजस जनन इष्ट आहारा। शोक रोग दुःख देवनिहारा॥

१०

रस विहीन दुर्गंध मय, बासी जूठो शीत।
यज्ञ योग्य नहिं भोज जे, तिन सों तामस प्रीति॥

११

फल इच्छा बिन पुरुष जे, विधिवत लखि कर्तव्य।
हृदय शान्ति धरि करहिं जो, सोई सात्विक यज्ञ॥

१२

किन्तु पार्थ फल हेतु संभारी। केवल दंभ हेतु ही धारी॥
कीन्हें जांय यज्ञ जग जोई। राजस यज्ञ समुझिये सोई॥

१३

विधि विहीन, अरु सृजन विहीना। मंत्र विहीन, दक्षिणा हीना॥
श्रद्धा हीन यज्ञ जो होई। तामस यज्ञ कहावत सोई॥

१४

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥

१५

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥

१६

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥

१७

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥

१८

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥

१९

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥

२०

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥

२१

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥

१४

द्विज-गुरु-देव-प्राज्ञजन पूजा। चित सारल्य, स्वच्छ तन दूजा ॥
अहिंसा अरु ब्रह्मचर्य सुहाये। शारीरिक तप पांच कहाये ॥

१५

उद्वेग न सिरजहि, वचन सुखारी। सत्य होहि अरु प्रिय हितकारी ॥
नित अभ्यास करहि स्वाध्याया। सो "वाणी तप" जगत कहाया ॥

१६

मन प्रसन्न पुनि सौम्य स्वभावा। इन्द्रिय संयम मौन सुहावा ॥
चित विशुद्धतम भाव सुहावे। "मानस तप" सो पार्थ कहावे ॥

१७

अति श्रद्धा सों जाय सँवारा। सोऊ तप इह तीनि प्रकारा ॥
निर्विकार फल चाह न जिनहीं। करहिं, ताहि 'सात्विक तप' कहहीं ॥

१८

सत्कार मान पूजा परक, तप मन दम्भ संजोय।
करहिं ताहि 'राजस' कहहिं, अनित्य सुचंचल होय ॥

१९

दुराग्रहन सों तप करहिं, निज उत्पीड़न जाहि।
अन्य जनन दुख देन हित, 'तामस' कहिये ताहि ॥

२०

दान होहिं जे धर्महिं लागी। निज उपकार अपेक्षा त्यागी ॥
देश काल अरु पात्र विचारी। सोई 'सात्विक दान' सुखारी ॥

२१

प्रति उपकार हेतु जे दाना। फल उद्देश्य राखि बलवाना ॥
चित धरि क्लेश भावना करहीं। तेहि 'दानहिं राजस' सब कहहीं ॥

२२

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥

२३

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥

२४

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥

२५

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाःक्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥

२६

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥

२७

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥

२८

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

२२

अदेश काल मंह दीन्हें दाना। पुनि कुपात्र कंह बिनु सम्माना ।।
धारि अवज्ञा दान जो होई। तामस दान कहावत सोई ।।

२३

तत् सत् ओऽम् ब्रह्म निर्देशा। त्रिविध कहावत पुण्य संदेशा ।।
ब्राह्मण, वेद ताहि अनुसारा। पूर्व समय बहु यज्ञन धारा ।।

२४

तेहिते नित सुमिरत ओंऽकारा। शास्त्र विहित मत के अनुसारा ।।
यज्ञ दान तप कर्मन आदी। सतत प्रवृत्त होहिं ब्रह्मवादी ।।

२५

"तत्" सुमिरत फल इच्छा त्यागे। यज्ञ क्रिया तप कर्मन पागे ।।
विविध दान क्रिया बहु करहीं। जे जन मोक्ष चाह उर धरहीं ।।

२६

साधु भाव सद्भाव हित, "सत्" इति शब्द प्रयोग।
अर्जुन कर्मन श्रेष्ठ हित, सोइ "सत्" शब्द सुयोग ।।

२७

तत्परता तप, दान अरु, यज्ञहु "सत्" कहलांय।
तिन हित कीन्हें कर्महू, "सत्" इमि जाने जांय ।।

२८

बिनु श्रद्धा मख, दान, तप, असत् कहावत पार्थ।
जिनते नहिं इह लोक सुख, नहिं परलोक सुस्वार्थ ।।

श्रीमद्भगवद्गीता पद्यानुवाद का श्रद्धात्रय विभाग योग नामक
सप्तदश अध्याय समाप्त हुआ ।। १७ ।।

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ अष्टादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

१

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥

श्रीभगवानुवाच—

२

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥

३

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥

४

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥

५

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

६

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः

अष्टादश अध्याय

अर्जुन ने पूछा—

१

सन्यास तत्व जानन चहहुँ, सुनु हे कृष्ण सुजान।
हृषीकेश केशी हनन, प्रथकहिं त्याग महान॥

श्रीभगवान ने कहा—

२

काम्य कर्म के त्याग कंह, ज्ञानी कहहिं विराग।
सब कर्मन फल त्याग कंह, कहत विवेकी त्याग॥

३

सदोष कर्म सब त्यागिये, कहत एक विद्वान।
अन्य कहहिं नहिं त्याज्यये, यज्ञ कर्म तप दान॥

४

त्याग हेतु तेहि अर्जुन राई। निश्चय सुनहु मोर चित लाई॥
पुरुष सिंह हे पांडु कुमारा। त्यागहु यहि जग तीनि प्रकारा॥

५

त्याज्य न यज्ञ न तप नहिं दाना। चाहिय इन कंह कारज माना॥
यज्ञ दान तप तीनिहुँ कर्मा। साधक सिद्धहिं पावक धर्मा॥

६

किन्तु कर्म यह सकल सदाई। करहि पार्थ मन मोह भुलाई॥
चाहिय तजहि चाह फल घोरा। यह निश्चित मत उत्तम मोरा॥

७

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥

८

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥

९

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥

१०

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥

११

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥

१२

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥

१३

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥

७

नियत कर्म कर यहि संसारा । सम्भव नाहिं त्याग निस्तारा ॥
परित्याग तिन भरि कर रागा । लोक कहावत तामस त्यागा ॥

८

समुझत जाहि हृदय दुखदायी । त्यागहिं देह कष्ट भय लाई ॥
राजस त्याग कहावत सोई । त्याग किये अस फल नहिं कोई ॥

९

निज चित्तहिं कर्तव्य समुझहीं । अर्जुन नियत कर्म जे करहीं ॥
छाँड़ि मोह फल, छाँड़े रागा । मोरे मत सो सात्विक त्यागा ॥

१०

अनहित कर्म हेतु नहिं द्वेषा । कुशल कर्म जिन मोह न शेषा ॥
सोई त्यागी सत गुण लीना । मेधावी सब संशय हीना ॥

११

देह धरे सम्भव नहीं, कर्मन पूर्ण विराग ।
त्यागी कहिये ताहि जो, करहि कर्म फल त्याग ॥

१२

'मिश्रित' 'इष्ट' 'अनिष्ट' इमि, त्रिविध कर्म फल होय ।
त्यागहीन भोगहि तिनहिं, नहिं संन्यासी कोय ॥

१३

अर्जुन सुनु मोहि सों धरि काना । कारण पांच विशिष्ट महाना ॥
सांख्य शास्त्र जेहि करत बखाना । सब कर्मन सिधि हित वरदाना ॥

१४

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥

१५

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥

१६

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥

१७

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥

१८

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥

१९

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥

२०

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥

१४

स्थान एक पुनि कर्ता दूजा । पृथक पृथक पुनि साधन पूजा ।।
विविधि विभिन्न क्रिया शतरूपा । दैव योग इमि पांच स्वरूपा ।।

१५

देह वचन मन तीनि संजोई । मनुज कर्म आरम्भहिं जोई ।।
नीति युक्त अथवा तजि नीती । तिन हित पांच हेतु यहि रीती ।।

१६

किन्तु होत हू कारण ऐते । मानहिं निज कहं कर्ता जेते ।।
अज्ञानी, संस्कार विहीना । दरस यथार्थ न कबहूँ कीना ।।

१७

जेहि के हिय अहंकार अभावा । जेहि की बुधि निर्लिप्त स्वभावा ।।
मारत हू यदि लोगन रहही । नहिं मारहि नहिं बन्धन परही ।।

१८

ज्ञान ज्ञेय पुनि आत्मा-ज्ञाता । प्रेरक अहहिं कर्म के ताता ।।
कर्ता कर्म करण जग जाना । तीनिहुँ संग्रह कर्म बखाना ।।

१९

ज्ञान कर्म कर्ता सम्बन्धा । गुणन भेद सों त्रिविध प्रबन्धा ।।
गुणन-गणक जिमि सांख्य बखाना । सोऊ सुनु मोहिसन धरि ध्याना ।।

२०

सब प्राणिन मँह लखहिं नित, अव्यय भाव महान ।
भिन्न न लखहिं अभिन्न कहँ, सोई सात्विक ज्ञान ।।

२१

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥

२२

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥

२३

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥

२४

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥

२५

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥

२६

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥

२७

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥

२१

विलग विलग भावन लखहिं, नाना भाव विधान ।
प्राणिन लखहिं विभिन्नता, सोई राजस ज्ञान ॥

२२

एक कार्य निज सरबस मानी । होहि असक्त तर्क तजि प्रानी ॥
सिद्धान्त हीन संकुचित बखाना । कहहिं ताहि सब तामस ज्ञाना ॥

२३

नियत कर्म मन मोह भुलाई । राग द्वेष सों प्राण छुड़ाई ॥
फल इच्छा त्यागी जेहि ध्यावै । सोई सात्विक कर्म कहावै ॥

२४

कर्म जिनहिं आसक्ति संभारी । अरु पुनि अहंकार हिय धारी ॥
बहुल प्रयासहिं साधहिं जोई । राजस कर्म कहावत सोई ॥

२५

सोचे बिनु परिणाम व हानी । बिनु हिंसा, पौरुष निज जानी ॥
मोह विवश आरम्भहि जोई । तामस कर्म कहावत सोई ॥

२६

मुक्त मोह अरु निरंहकारी । धीरज अरु उत्साहहिं धारी ॥
सिधि, असिद्धि दुहुँ बिनहिं विकारा । सात्विक-कर्ता ताहि पुकारा ॥

२७

विषयन राग-कर्मफल रागा । हिंसक कृपण अपूत अभागा ॥
हर्ष शोक नित डूबत प्रानी । राजस-कर्ता कहहिं बखानी ॥

२८

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥

२९

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥

३०

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥

३१

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥

३२

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥

३३

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥

३४

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥

२८

शठ, स्वतन्त्र, संस्कार विहीना। अलस अनम्र, न पर हित कीना ॥
करहिं विलम्ब, निराशा गहहीं। तिन कंह "तामस-कर्ता" कहहीं ॥

२९

बुद्धि भेद धृति भेद भौं, त्रिविध गुणन अनुसार।
विलग विलग अर्जुन कहहुँ, सुनहु पूर्ण विस्तार ॥

३०

कर्म-अकर्म, भय-अभय, पुनि, पारथ कार्य-अकार्य।
समुझहि बन्धन-मोक्ष सो, सात्विक बुद्धी आर्य ॥

३१

समुझहि धर्म-अधर्म नहिं, कार्य अकार्य न पार्थ।
बुद्धि सोइ सुनु राजसी, समुझहिं नाहिं यथार्थ ॥

३२

अधरम नित्य धरम सम माना। तम गुण जेहि झाँपे विधि नाना ॥
उलटी दीठि सबन कहं लखहीं। पारथ तेहि "तामस बुधि" कहहीं ॥

३३

मन इन्द्रिय अरु प्राण क्रियायें। पारथ जेहि धृति धारी जायें ॥
परमात्महिं थिर, फल वैरागी। समता-युत "सात्विक-धृति" त्यागी ॥

३४

जो धृति धारहि धरमहिं कामा। अरु पुनि अर्थ पार्थ अविरामा ॥
पै प्रसंग वश फल मन भावा। "राजस धृति" तेहि सबन बतावा ॥

३५

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥

३६

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥

३७

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥

३८

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥

३९

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥

४०

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥

४१

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥

३५

जेहि गहि सपन शोक अवसादा। अरु मद भय पुनि घोर विषादा॥
तजहिं न नर अविवेक सँभारी। सो "धृति तामस" पार्थ पुकारी॥

३६

अब यह सुख हू तीनि प्रकारा। सुनु मोहिं सन हे पांडु कुमारा॥
करि अभ्यास जहां रममाना। पावहि दुख कर अन्त महाना॥

३७

जो सुख विष सम प्रथम सुहावा। किन्तु अन्त अमृत सम पावा॥
सो सुख आत्मनिष्ठ बुधि जाये। सात्विक सुख सो जगत कहाये॥

३८

इन्द्रिय विषय दुहुन संयोगा। प्रथम लगहि अमृत सम भोगा॥
विष सम किन्तु गहहि परिणामा। सो सुख शास्त्रन राजस नामा॥

३९

जो सुख मोहहि आतमा, आरम्भहिं पुनि अन्त।
निद्रा-अलस-प्रमाद-भय, तामस ताहि भनन्त॥

४०

नहिं पदार्थ अस धरणि पर, नहिं दिवि देवन माँहि।
प्रकृति उपज इन तीनि गुण, बन्धन छूटि सकाँहि॥

४१

ब्राह्मण वैश्य शूद्र अरु क्षत्री। अर्जुन चारि वर्ण यहि धरती॥
विलग विलग तिन कर्म प्रसारा। निज सुभाव निज गुण अनुसारा॥

४२

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥

४३

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥

४४

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥

४५

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥

४६

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

४७

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥

४८

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥

४२

शम, दम, तप, विशुद्धि तन मन की। क्षमा-सुभाव, सरलता-चित की ॥
ज्ञान, विज्ञाना, आस्तिक-धर्मा। उपज सुभावहिं ब्राह्मण कर्मा ॥

४३

शौर्य तेज धीरज दाक्षिणता। वृत्ति उदार युद्ध स्थिरता ॥
ईश्वर भाव सुसत्ता पाये। क्षत्रिय कर्म स्वभावहिं जाये ॥

४४

गो रक्षा कृषि अरु व्यापारा। वैश्यन कर्म स्वभावहिं धारा ॥
परिचर्या अरु श्रम आचारा। शूद्र स्वभाविक कर्म पुकारा ॥

४५

निज निज कर्म निरत नर जोई। संप्रति सिद्धिहिं पावत सोई ॥
कर्मनिरत निज जे नर रहहीं। सुनु मोहि सन जिमि सिद्धी लहहीं ॥

४६

प्रेरक प्राणि मात्र जग लाई। अरु जेहि सब जग व्याप्त सदाई ॥
तेहि अर्पित करि निज सब कामा। पावहिं मनुज सिद्धि निष्कामा ॥

४७

विगुण स्वधर्महिं अति कल्याना। विधिवत कृत परधर्म महाना ॥
सहज प्राप्त कर्मन जे करहीं। कलुषित पाप पुंज नहिं परहीं ॥

४८

सहज कर्म नाहीं तजे, अर्जुन, दोषहु युक्त।
दोष युक्त शुभ कर्म इमि, अग्नि धूम्र संयुक्त ॥

४९

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ।।

५०

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ।।

५१

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ।।

५२

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ।।

५३

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।

५४

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।।

५५

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।।

४९

सर्वत्र बुद्धि जेहि मोह-विरक्ता । इन्द्रिय जित सब इच्छन मुक्ता ॥
यदि सन्यासहिं चित्त रमावै । सिधि नैष्कर्म्य श्रेष्ठतम पावै ॥

५०

मिलहि सिद्ध कंह ब्रह्म जिमि, मोहि सन सुनहु यथार्थ ।
इति जो निष्ठा ज्ञान की, सुनु संक्षेपहि पार्थ ॥

५१

जे अति शुद्ध विमल बुधिवंता । धीरज धरि इन्द्रिय नियमंता ॥
शब्द आदि विषयन कहँ छाड़े । त्यागे राग द्वेष अति गाढ़ें ॥

५२

एकान्त चहहिं लघु भोजन करहीं । वाणी अरु तनमन वश धरहीं ॥
नित्य परायण ईश्वर ध्याना । वैरागहिं निज आश्रय माना ॥

५३

अहङ्कार बल दर्प विरागी । काम क्रोध संग्रह वृति त्यागी ॥
निर्मम शांति नित्य हिय धारी । समरथ ब्रह्म रूप अधिकारी ॥

५४

ब्रह्मभूत आनन्दित चित्ता । करहिं न शोक न धारहिं इच्छा ॥
सब प्राणिन मँह समता लावें । परम भक्ति मोरी सो पावें ॥

५५

जानहिं मोहि भक्ति आधारा । अखिल जगत जिमि मोर प्रसारा ॥
अरु इमि मोर यथारथ जानी । पुनि मोरे उर प्रविशहि प्रानी ॥

५६

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।।

५७

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ।।

५८

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ।।

५९

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ।।

६०

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ।।

६१

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।।

६२

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।।

५६

सबहि कर्म निज धर्म विभोरा। करत सदा गहि आश्रय मोरा ॥
मोरी कृपा प्रसादहिं देही। शाश्वत अव्यय पद गहि लेही ॥

५७

चित सों सब करि अर्पित कर्मा। मोहि मँह होहु परायण धर्मा ॥
बुधि समत्व आश्रय चित लाई। जियहु सदा मोहिं चित्त डुबाई ॥

५८

मोहिं लीन चित, मम कृपा, तरिय सकल दुख त्रास।
यदि न सुनिय निज अहम् वश, करिय स्वयं निज नास ॥

५९

अहंकार वश कहेहु जो, नाहिं करहु मैं युद्ध।
मिथ्या निश्चय तोर यह, करिहहि प्रकृति प्रवृत्त ॥

६०

निज स्वभाव गत अपने धर्मा। तुम कौन्तेय बंधे निज कर्मा ॥
मोह विवश जेहि कर्म न चाहा। प्रकृति विवश करिहहु नर नाहा ॥

६१

हे अर्जुन सब प्राणिन माहीं। ईश्वर हृदय-प्रदेश बसाही ॥
निज माया प्राणिन भरमावै। मानहुँ यन्त्र चढ़ाइ घुमावै ॥

६२

हे अर्जुन ताही की शरना। गहहु हृदय भरि भक्ति अभिन्ना ॥
ताहि कृपा गहि शान्ति महाना। पाइय पुनि शाश्वत स्थाना ॥

६३

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥

६४

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥

६५

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

६६

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

६७

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥

६८

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥

६९

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥

६३

अति ही गूढ़-गूढ़तर ज्ञाना । इमि तोहि सन मैं करेहुँ बखाना ।।
यहि सम्बन्ध यथार्थ विचारी । करहु सोइ जस समुझि तुम्हारी ।।

६४

पुनि मोहि सन अति सूक्ष्म प्रकारा । परम वचन सुनु पांडुकुमारा ।।
अति ही प्रिय पारथ तुम मोरे । तेहिते कहहुँ जानि हित तोरे ।।

६५

होहु भक्त मम, मोहि चित धरहू । मो हित यज्ञ मोहि हित नमहू ।।
कहहुँ प्रतिज्ञा सत करि तोही । मोरे प्रिय तुम पइहहु मोही ।।

६६

सब धर्मन सो चित्त हटाई । मोरी शरण गहहु तुम आई ।।
मैं तोहि सब पापन यहि लोका । करिहहुँ मुक्त करिय नहिं शोका ।।

६७

अभक्त अतपसी सन कबहुँ, कहेउ न तुम यहु ज्ञान ।।
नहिं जिज्ञासा हीन सों, नहिं जिन ईर्षा मान ।।

६८

परम गूढ़ यह ज्ञान मम, भगतन कहहिं सुनाय ।
निश्चय पावहिं मोहि कँह, परम भक्ति मम पाय ।।

६९

तोहि समान सब मनुजन माहीं । मेरो हित साधक कोउ नाहीं ।।
तेहिते मोहि हित यहि संसारा । अन्य न है नहिं हुइहै प्यारा ।।

७०

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥

७१

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥

७२

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥

अर्जुन उवाच—

७३

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥

संजय उवाच—

७४

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥

७५

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥

७६

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥

७०

अरु जे गहि अध्ययन सहारा। गुनहिं धरम संवाद हमारा ॥
सोऊ ज्ञान यज्ञ विधि साधे। मोरे मत मोहिं कंह आराधे ॥

७१

अति श्रद्धालु द्वेष नहिं जाना। जो नर सुनहि मात्र धरि ध्याना ॥
सोऊ मुक्त लोक शुभ धावै। पुण्य कर्म रत नर जेहि पावै ॥

७२

मम उपदेश पार्थ मति माना। का तुम सुनेहु हृदय धरि ध्याना ॥
अज्ञान जन्य हे पांडु कुमारा। कहहु कि विनसेहु मोह तुम्हारा ॥

अर्जुन ने कहा—

७३

विनसेहु मोह, आपु सुधि पाई। तुम्हारी कृपा कृष्ण यदुराई ॥
विगत मोह मन थिरता आई। करहुँ सोइ जो कहेहु बनाई ॥

संजय ने कहा—

७४

पारथ अरु वसुदेव महाना। जस कुछ कहेनि सुनेनि विधि नाना ॥
सो संवाद सुनेहुँ सुखकारी। अति अद्भुत रोमांचक भारी ॥

७५

व्यास प्रसाद सुनेहुँ निज काना। अति ही श्रेष्ठ गूढ़तम ज्ञाना ॥
योगेश्वर कृष्णहिं सुख लाई। कहत स्वयं साक्षात सुहाई ॥

७६

राजन्! केशव पार्थ को, सुमिर सुमिर संवाद।
अति अद्भुत अति पुण्यमय, पुनि पुनि मन अहलाद ॥

७७

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ।।

७८

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ।।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ।। १८ ।।

७७

सुमिरि सुमिरि हरि रूप मैं, अद्भुत विस्मयवान ।
बार-बार हरषहुँ हृदय, विस्मय होत महान ॥

७८

जहँ योगेश्वर कृष्ण अरु, पार्थ धर्नुधर घोर ।
तहाँ विजय उत्कर्ष श्री, दृढ़ निष्ठा, मत मोर ॥

श्रीमद्भगवद्गीता पद्यानुवाद का मोक्ष संन्यास योग नामक
अष्टदश अध्याय समाप्त हुआ ॥ १८ ॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ गीतामाहात्म्यम्

१

गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत्प्रयतः पुमान् ।
विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः ॥

२

गीताध्ययनशीलस्य प्राणायामपरस्य च ।
नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्मकृतानि च ॥

३

मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने ।
सकृद्गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम् ॥

४

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥

५

भारतामृतसर्वस्वं विष्णोर्वक्त्राद्विनिःसृतम् ।
गीतागङ्गोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥

६

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

७

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतम् ।
एकोदेवो देवकीपुत्र एव ॥
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि ।
कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा ॥

श्री कृष्णय नमः

आरती

आरति श्री भगवद्गीता की।
शुभ संवाद, सुनीति सुधा की॥

卐

मोह राग भय क्रोध विनासिनि,
असत्-भाव, सत्-भाव प्रकासिनि।
योगेश्वर मुखकमल विहारिणि,
पतित पावनी सुर सरिता की॥
आरति.... ॥

卐

सब वेदन को सार सुहावनि,
अहंकार बल-दर्प नसावनि।
योगशास्त्र, उपनिषद् विलासिनि,
ब्रह्म सूत्र अमृत विद्या की॥
आरति.... ॥

卐

विश्वरूप हरि को दरसावति,
भ्रमित-हृदय कँह राह दिखावति।
सकल जगत हरि रूप बतावति,
कर्म-योग निष्काम व्रता की॥
आरति.... ॥

卐

कलि मल कलुष समूल निवारिणि,
सत् चित अरु आनन्द उघारिणि।
कृष्ण! कृष्ण! हा कृष्ण! उच्चारिणि,
भगतन् निधि, योगिन श्रद्धा की॥

आरति श्री भगवद्गीता की।
शुभ संवाद, सुनीति सुधा की॥